दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९२ तंत्री जगजीवन बाउचंद दोशी वर्ष २२ अंक नं० ३

सत्संग और कुसंग

सत् को जिन्होंने समझ लिया है और समझा रहे हैं—ऐसे धर्मात्मा का संग तो सत्संग है। वीतरागी चिदानंद स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा एवं स्थिरतावाले धर्मात्मा सत् हैं; ऐसे धर्मात्मा का संग-सेवा-उपासना, सो सत्संग है

और उससे विपरीत-उल्टी श्रद्धा आदि का पोषण करनेवाले जीवों का संग अर्थात् यह भी सच्चे हैं—ऐसी बुद्धि से उनका संग, वह कुसंग है, वह असत्संग है। *(प्रवचनसार, गाथा १५८ के प्रवचन से)*

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

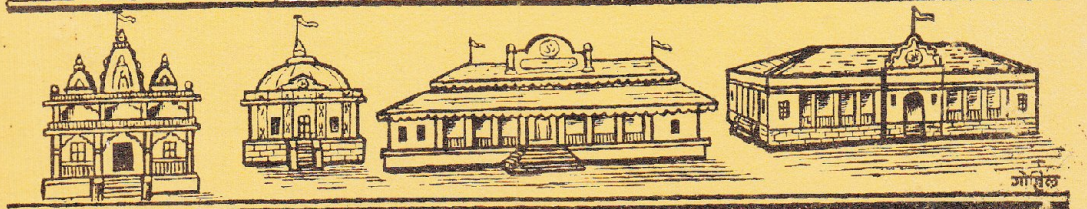

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जुलाई १९६६] वार्षिक मूल्य २) (२५५) एक अंक २५ पैसा [अषाढ़ सं० २०२३

आत्मार्थी

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिये अंतर में इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें उस ओर नहीं देखता; मुझे तो अपने आत्मा को प्रसन्न करना है—जगत को प्रसन्न नहीं करना है; जगत की अपेक्षा आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा की अपेक्षा जगत प्रिय नहीं लगा है; 'जगत इष्ट नहिं आत्मसे'—ऐसी आत्मा की लगन के कारण जगत के मान-अपमान को नहीं गिनता। मुझे तो सुनकर अपने आत्मा का हित साधना है और यही लक्ष है, परंतु मैं समझकर दूसरों से अधिक होऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझाऊँ—ऐसी वृत्ति भी नहीं उठती।—देखो, आत्मार्थी जीव की पात्रता!

जो समुद्र में डूब रहा हो उसका एक ही लक्ष होता है कि मैं डूबने से कैसे बचूँ? वहाँ कोई सज्जन आकर उसे बचा ले, तो कितना उपकृत होता है?—अहा! आपने मुझे डूबने से बचा लिया... आपने मुझे जीवन दिया—इसप्रकार महा उपकार मानता है; उसीप्रकार भवसमुद्र में गोते खा-खाकर थके हुए जीव के एक ही लक्ष है कि—मेरा आत्मा इस संसार समुद्र से कैसे निकले! वहाँ कोई ज्ञानी संत उसे तरने का उपाय बतलायें तो वह प्रमाद के बिना उल्लसित भाव से उस उपाय को अंगीकार करता है। जैसे कोई डूबते हुए को नौका में बैठने को कहे तो क्या वह जरा भी प्रमाद करेगा?—नहीं करेगा। उसीप्रकार संसार से पार होने के कामी आत्मार्थी जीव को ज्ञानी संत भेदज्ञानरूपी नौका में बैठने को कहते हैं, वहाँ वह आत्मार्थी जीव भेदज्ञान में प्रमाद नहीं करता और भेदज्ञान का उपाय दर्शानेवाले संतों के प्रति उसका महान उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! अनंत जन्म-मरण के समुद्र से आपने हमें बाहर निकाल लिया... भवसमुद्र में डूबते हुए हमें आपने बचा लिया... संसार में जिसका कोई बदला नहीं है ऐसा परम उपकार आपने हमारे ऊपर किया है।

विषय-सूची

	तीर्थधाम सोनगढ़	(चित्र)
१.	एक बार स्वीकार तो कर	
२.	जीव के पाँच भावों का परिचय	
३.	संवर	
४.	ज्ञान	
५.	सप्तर्षि मुनि भगवन्त	
६.	श्रेणिक महाराज को धर्मप्राप्ति	
७.	अकम्पनाचार्य की अडिगता.... विष्णुकुमार की वत्सलता	
८.	ज्ञान तत्त्व में पर का अकर्तृत्व	
९.	ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि	
१०.	दर्शन-पाठ	
११.	भगवान वृषभदेव का वैराग्य	
१२.	विविध वचनामृत	
१३.	महान सौजन्यता पूर्ण मंत्र	
१४.	वस्तु स्तवन	
१५.	निमित्त नैमित्तिक का मेल और स्वतंत्रता	
१६.	विविध समाचार	

તીર્થધામ
સોનગઢ

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला)

जुलाई : १९६६ ☆ वर्ष २२वाँ, अषाढ़ वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ३

एक बार स्वीकार तो कर!

हे जीव! हे प्रभु! तू कौन है, उसका कभी विचार किया है? कौन तेरा स्थान और क्या तेरा कार्य-उसकी तुझे खबर है? प्रभु! विचार तो सही कि तू कहाँ है और यह सब क्या है? तुझे शांति क्यों नहीं है?

प्रभु! तू सिद्ध है, स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, परंतु तुझे अपने स्वरूप की खबर नहीं है, इसलिये तुझे शांति नहीं है। भाई! सचमुच तू घर भूला है—भटक गया है, पराये घर को तू अपना स्थान बैठा है; परंतु भाई! इसप्रकार अशांति का अंत नहीं आयेगा।

भगवान! शांति तो तेरे स्व-गृह में ही भरी है, भाई! एकबार सबका लक्ष छोड़कर अपने स्व-गृह में तो देख-तू प्रभु है; सिद्ध है प्रभु.... तू तेरे स्वगृह को देख-पर में न देख! पर में लक्ष कर-करके तो तू अनादि से भ्रमण कर रहा है, अब अपने अंतरस्वरूप की ओर दृष्टि कर! एकबार तो अंतर में देख! अंतर में परम आनंद का अनंत भंडार भरा है, उसे सम्हाल तो सही! एकबार भीतर दृष्टि डाल तो तुझे अपने स्वभाव के किसी अपूर्व परम सहज सुख का अनुभव होगा।

अनंत ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है।'
प्रभु! अपनी प्रभुता का एकबार तो स्वीकार कर!

जीव के पाँच भावों का परिचय

जीव के पाँच मुख्य भाव हैं और अपने उपशमादि सर्व भावों का कर्ता जीव स्वयं ही है। पुद्गल कर्म की उदयादि सर्व अवस्थाओं का कर्ता वह पुद्गल कर्म ही स्वयं है। जीव के पाँच भावों संबंधी सुंदर विवेचन प्रवचन में आया था—जिन विविध प्रकारों को जानने से जिज्ञासु को ज्ञान का उल्लास होता है, उन पाँच भावों का परिचय उपयोगी होने से 'आत्मधर्म' के अंक नं० १ पृष्ठ ३१ में तत्संबंधी १०१ प्रश्न दिये गये थे। इस अंक में उन प्रश्नों के साथ उनके उत्तर भी दिये जा रहे हैं। आशा है यह जिज्ञासु पाठकों को उपयोगी तथा रुचिकर होंगे।

(१) जीव के पाँच मुख्यभाव हैं, वे कौन-कौन से ?

— औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक—यह जीव के मुख्य पाँच भाव हैं।

(२) चौथे से लेकर चौदहवें गुणस्थान में भी होता है, वह कौनसा भाव ?

— क्षायिकभाव।

(३) चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है, वह कौनसा भाव ?

— औपशमिकभाव।

(४) पहले से चौदहवें गुणस्थान तक होता है, वह कौनसा भाव ?

— औदयिक तथा पारिणामिकभाव।

(५) पहले से बारहवें गुणस्थान तक होता है, वह कौनसा भाव ?

— क्षायोपशमिकभाव।

(६) संसारी और सिद्ध सभी में होता है, वह कौनसा भाव ?

— पारिणामिकभाव।

(७) सिद्ध में नहीं होता, वह कौनसा भाव ?

— औदयिकभाव, क्षायोपशमिकभाव तथा औपशमिकभाव

(८) संसारी में नहीं होता, वह कौनसा भाव ?

— कोई भी नहीं; संसारी जीवों में सुच्चयरूप से पाँचों भाव होते हैं।

(९) समस्त संसारी जीवों में होता है, वह कौनसा भाव ?

— औदयिकभाव।

(१०) संसार में सर्वाधिक जीवों के होता है, वह कौनसा भाव ?

— औदयिकभाव।

(११) संसार में सबसे कम जीवों को होता है, वह कौनसा भाव ?

— औपशमिकभाव।

(१२) सभी छद्मस्थ जीवों के होता है, वह कौनसा भाव ?

— औदयिकभाव और क्षायोपशमिकभाव।

(१३) ज्ञानपर्याय में लागू न हो, वह कौनसा भाव ?

— औपशमिकभाव।

(१४) जीव को धर्म का प्रारम्भ हो, तब कौन-कौनसे भाव होते हैं ?

— औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक—यह भाव होते हैं।

(१५) देवगति में कौन-कौन से भाव हो सकते हैं ?

— पाँचों भाव होते हैं।

(१६) मनुष्यगति में कौन-कौन से भाव हो सकते हैं ?

— पाँचों भाव होते हैं।

(१७) नरकगति में कौन-कौन से भाव हो सकते हैं ?

— पाँचों भाव होते हैं।

(१८) तिर्यंचगति में कौन-कौन से भाव हो सकते हैं ?

— पाँचों भाव होते हैं।

(१९) श्रद्धा का क्षायिकभाव किस गुणस्थान में होता है ?

— चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक।

(२०) ज्ञान का क्षायिकभाव किस गुणस्थान में होता है ?

— तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में।

(२१) चारित्र का क्षायिकभाव किस गुणस्थान में होता है ?

— बारहवें गुणस्थान से चौदहवें तक। (उपरोक्त तीनों भाव सिद्धदशा में भी होते हैं।)

(२२) पाँच में से सबसे कम भाव किस जीव के होते हैं ?

— सिद्ध भगवान के दो ही भाव होते हैं—क्षायिक और पारिणामिक।

(२३) एक साथ पाँच भाव किस जीव के लागू पड़ते हैं ?

— उपशमश्रेणी में आरूढ़ क्षायिकसम्यग्दृष्टि को पाँचों भाव लागू होते हैं।

(२४) पन्द्रहवाँ स्थान कौन सा ?

— चौदह गुणस्थानों से पार ऐसा सिद्धपद।

(२५) उपशम सम्यक्त्वी को क्षपकश्रेणी होती है ?

— नहीं होती।

(२६) क्षायिक सम्यक्त्वी के उपशमश्रेणी होती है ?

— होती है।

(२७) क्षपकश्रेणीवाला जीव स्वर्ग में जाता है ?

— नहीं जाता; मोक्ष में ही जाता है।

(२८) उपशमश्रेणीवाला जीव स्वर्ग में जाता है ?

— हाँ।

(२९) मनःपर्ययज्ञान कौनसा भाव है ?

— क्षायोपशमिकभाव।

(३०) केवलज्ञान कौनसा भाव है ?

— क्षायिकभाव।

(३१) सम्यग्दर्शन कौनसा भाव है ?

— औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक।

(३२) वीतरागता कौनसा भाव है ?

— उपशम अथवा क्षायिक। (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा चारित्र आंशिक वीतरागता है।)

(३३) वर्तमान में भरतक्षेत्र के जीव को कौन-कौनसे भाव होते हैं ?

— औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।

(३४) आठ कर्मों में से उदय कितनों में होता है ?

— आठों में।

(३५) आठ कर्मों में से क्षय कितनों में होता है ?

— आठों में।

(३६) आठ कर्मों में से उपशम कितनों का होता है ?

— एक मोहनीय कर्म का।

(३७) आठ कर्मों में से क्षयोपशम कितनों का होता है ?

— चार घातियाकर्मों का।

(३८) अनादि-अनंतभाव कौनसा है ?

— पारिणामिकभाव।

(३९) सादि-अनंतभाव कौनसा भाव है ?

— क्षायिकभाव।

(४०) अनादि-सांत भाव कौनसा है ?

— औदयिक, क्षायोपशमिक।

(४१) सादि-सांत भाव कौनसा है ?

— औपशमिकभाव।

(४२) धर्मी न हो, उस जीव के कौन से भाव होते हैं ?

— औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिकभाव।

(४३) धर्मात्मा के कौन से भाव होते हैं ?

— पाँचों भाव हो सकते हैं।

(४४) कुन्दकुन्दाचार्यदेव कौन से भाव होंगे ?

— मनुष्य पर्याय में थे, तब धर्म प्राप्तिकाल में औपशमिक, तदुपरांत क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक।

(४५) भरतक्षेत्र के धर्मात्मा को वर्तमान में कौन से भाव होंगे ?

— उपरोक्तानुसार चार भाव।

(४६) विदेहक्षेत्र के धर्मात्मा को कौनसे भाव होंगे ?

— पाँचों भाव हो सकते हैं।

(४७) चौदहवें गुणस्थान में कौनसे भाव होते हैं ?

— क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक–यह तीन भाव होते हैं।

(४८) तेरहवें गुणस्थान में कौनसे भाव होते हैं ?

— उपरोक्तानुसार तीन भाव।

(४९) बारहवें गुणस्थान में कौनसे भाव होते हैं ?

— क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक।

(५०) ग्यारहवें गुणस्थान में कौनसे भाव होते हैं ?

— पाँचों भाव हो सकते हैं।

(५१) पहले गुणस्थान में हो और चौदहवें गुणस्थान में न हो, वह कौनसा भाव है ?

— क्षायोपशमिकभाव।

(५२) जो पहले गुणस्थान में तो हो और चौदहवें गुणस्थान में भी हो—वह कौनसा भाव है ?

— औदयिकभाव तथा पारिणामिकभाव।

(५३) पहले गुणस्थान में न हो और चौदहवें गुणस्थान में भी न हो, वह कौनसा भाव है ?

— औपशमिकभाव।

(५४) संसारदशा में निरंतर रहनेवाला भाव कौन ?

— औदयिकभाव।

(५५) आने के पश्चात् जो कभी न जाये, वह कौनसा भाव ?

— क्षायिकभाव।

(५६) ज्ञान का क्षायिकभाव किस गति में होता है ?

— मनुष्यगति में।

(५७) श्रद्धा का क्षायिकभाव किस गति में होता है ?

— चारों गति में हो सकता है।

(५८) चारित्र का क्षायिकभाव किस गति में होता है ?

— मनुष्यगति में।

(५९) श्रद्धा का क्षयोपशमभाव किस गति में होता है ?

— चारों गतियों में।

(६०) ज्ञान का क्षयोपशमभाव किस गति में होता है ?

— चारों गतियों में।

(६१) ज्ञान का क्षायोपशमिक न हो, ऐसा कब होता है ?

— केवलज्ञान हो तब।

(६२) एक बार नष्ट होने के बाद पुनः आ सके—वह कौनसा भाव है ?

— उपशमभाव।

(६३) एक बार नष्ट होने के बाद पुनः कभी न आ सकें—ऐसे दो भाव कौन से हैं ?

— उदयभाव तथा क्षयोपशमभाव।

(६४) शुभ अथवा अशुभराग कौनसा भाव है ?

— औदयिकभाव।

(६५) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान कौनसा भाव है ?

— क्षायोपशमिकभाव।

(६६) मोक्ष कौनसा भाव है ?

— क्षायिकभाव।

(६७) मतिज्ञानावरण का सम्पूर्ण क्षय हो, तब कौन सा ज्ञान प्रगट होता है ?

— केवलज्ञान।

(६८) उपशमभाव के कितने प्रकार हैं ?

— दो प्रकार।

(६९) क्षायिकभाव के कितने प्रकार हैं ?

— नौ प्रकार।

(७०) क्षयोपशमिकभाव के कितने प्रकार हैं ?

— अठारह प्रकार।

(७१) औदयिकभाव के कितने प्रकार हैं ?

— इक्कीस प्रकार।

(७२) औदयिकभाव के साथ सदैव होता ही है—ऐसा कौनसा भाव है ?

— पारिणामिकभाव।

(७३) चौथे गुणस्थान से पहले न हो—वह कौनसा भाव है ?

— औपशमिक और क्षायिकभाव।

(७४) ग्यारहवें गुणस्थान के पश्चात् न हो, वह कौनसा भाव हैं ?

— औपशमिकभाव।

(७५) बारहवें गुणस्थान के पश्चात न हो—वह कौनसा भाव है ?

— क्षायोपशमिकभाव।

(७६) पहले गुणस्थान में हो और तेरहवें गुणस्थान में न हो—वह कौनसा भाव है ?

— क्षायोपशमिकभाव।

(७७) संसारदशा में जीव को कौनसा भाव सबसे अल्पकाल रहता है ?

— औपशमिकभाव।

(७८) संसारदशा में कौनसा भाव जीव को सर्वाधिक काल तक रहता है ?

— औदयिकभाव।

(७९) साधकभाव के कारणरूप भाव कौनसे ?

— उपशम, क्षायिक, और यदि सम्यक् सहित हो तो क्षायोपशमिक।

(८०) साधकदशा का प्रारम्भ किस भाव से होता है ?

— उपशमभाव से।

(८१) संसारदशा की पूर्णता किस भाव से होती है ?

— नौ क्षायिकभाव से।

(८२) संसारदशा में सदा नियम से साथ ही हों—ऐसे दो भाव कौनसे हैं ?

— औदयिक और पारिणामिकभाव।

(८३) सीमंधर भगवान को वर्तमान में कौन-कौन से भाव हैं ?

— क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक—यह तीन भाव।

(८४) महावीर भगवान को वर्तमान में कौन-कौन से भाव हैं ?

— क्षायिक और पारिणामिक—यह दो भाव।

(८५) सीमंधर भगवान के गणधर को वर्तमान में कौन-कौनसे भाव संभवित हैं ?

— पाँचों भाव संभवित हैं।

(८६) पाँच भावों में से बन्ध का कारण कौनसा भाव है ?

— मोह संबंधी औदयिकभाव।

(८७) पाँच भावों में से मोक्ष का कारण कौनसा भाव है ?

— उपशम, क्षायिक और सम्यक् सहित क्षायोपशमिकभाव।

(८८) बन्ध-मोक्षरहित भाव कौनसा भाव है ?

— पारिणामिकभाव।

(८९) औदयिकभाव के गुणस्थान कौन-कौनसे हैं ?

— पहले से लेकर चौदहवें तक।

(९०) उपशमभाव के गुणस्थान कौन-कौनसे हैं ?

— चौथे से ग्यारहवें तक।

(९१) क्षयोपशमिकभाव के गुणस्थान कौन-कौनसे हैं ?

— पहले से बारहवें तक।

(९२) क्षायिकभाव के गुणस्थान कौन-कौनसे हैं ?

— चौथे से चौदहवें तक।

(९३) उपशमभाववाले जीव कितने ?

— असंख्यात।

(९४) संसार में उपशम की अपेक्षा क्षायिकभाववाले जीव कितने ?

— असंख्यातगुने।

(९५) जगत में उपशम की अपेक्षा क्षायिकभाववाले जीव कितने ?

— अनन्तगुने।

(९६) संसार में क्षयोपशम सम्यक्त्वी अधिक हैं या क्षायिक सम्यक्त्व ?

— क्षयोपशम सम्यक्त्वी असंख्यातगुने अधिक हैं ?

(९७) सीमंधर भगवान में न हो और अपने में हो—वह कौनसा भाव है ?

— क्षायोपशमिकभाव।

(९८) सीमंधर भगवान में हो और अपने में वर्तमान में न हो वह कौनसा भाव है ?

— क्षायिकभाव।

(९९) सीमंधर भगवान में हो और अपने में भी हो—वह कौनसा भाव ?

— औदयिकभाव तथा पारिणामिकभाव।

(१००) केवलज्ञान हो, तब कौनसा भाव आत्मा में से कम होता है ?

— क्षायोपशमिकभाव

(१०१) एक जीव अरिहन्त से सिद्ध हुआ तो उसमें से कौनसा भाव कम हो गया ?

— औदयिकभाव कम हो गया।

[— इस संबंध में कोई प्रश्न उठे तो आप 'आत्मधर्म' द्वारा पूछ सकते हैं।]

संवर

भाई! आस्रव क्या, संवर क्या—उन सब तत्त्वों की यथावत् भिन्न-भिन्न पहिचान करे तो तुझे सम्यग्ज्ञान के मार्ग की प्रसिद्धि हो। आस्रव का मार्ग बहिर्मुख है और संवर का मार्ग अंतर्मुख है—ऐसे भिन्न-भिन्न मार्गों को जो जीव नहीं जानता, वह भ्रम से संवर के मार्ग पर चलने के बदले आस्रव के मार्ग पर चलने लगता है; आस्रव के कारणरूप शुभराग को संवर के कारणरूप मानता है... उसे संवर कहाँ से प्रगट होगा? संवर का सच्चा मार्ग अर्थात् संवर का सच्चा स्वरूप पहिचाने तो संवर प्रगट हो।

[पंचास्तिकाय के प्रवचनों से]

नवपदार्थों में संवर पदार्थ क्या है—उसकी यह बात है। संवर कहो या धर्म कहो। जीव की चैतन्यपरिणति ऐसी निर्मल हो कि सर्व पदार्थों के प्रति समभाव रहे, राग-द्वेष-मोहभाव न हो, संयोग-वियोग में राग-द्वेष न हो, ऐसी विशुद्ध परिणति, वह जीव का भावसंवर है। ऐसे भावसंवर को प्राप्त करके शुभाशुभकर्म का आस्रव रुक जाये, वह द्रव्यसंवर है। देव-गुरु के प्रति परम भक्ति, साधर्मी का प्रेम आदि शुभभाव ज्ञानी धर्मात्मा को होता है; ज्ञानी उसे शुभास्रव का कारण समझते हैं; और संवर का कारण तो राग-द्वेष-मोह रहित विशुद्ध चैतन्यपरिणाम हैं—ऐसा जानते हैं। संवर का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। सम्यग्दर्शन होते ही मिथ्यात्वादि भाव दूर हो जाते हैं और मिथ्यात्वकृत ४१ कर्मप्रकृतियों का आस्रव तो होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टि को समस्त पर से भिन्न चैतन्य का भान हुआ है; इसलिये कोई परद्रव्य इष्ट-अनिष्टरूप भासित नहीं होता, और इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धिपूर्वक उसे किसी भी परद्रव्य के प्रति राग-द्वेष नहीं होते, इसलिये मिथ्यात्वसहित अनंतानुबंधी राग-द्वेष का तो उसे संवर हो गया है। रागपरिणति एवं वीतरागपरिणति—दोनों की धाराएँ अलग हो गई हैं।

स्वद्रव्य क्या और परद्रव्य क्या? उसकी भिन्नता का जिसे ज्ञान नहीं है, उसके तो मिथ्यात्व का महान आस्रव विद्यमान है; शुभराग के समय भी अज्ञान के कारण उसे मिथ्यात्वादि का आस्रव भी होता रहता है। सम्यग्दर्शन के बिना संवरधर्म नहीं होता। संवर के बिना कर्मबंध नहीं अटकता और कर्मबंधन अटके बिना मोक्ष नहीं होता। यहाँ सम्यग्दर्शन के

उपरांत मुनि के विशेष संवर की बात की है—मुनिदशा में तो चैतन्य-परिणति ऐसी निर्मल हो गई है कि उसमें राग-द्वेषरूप मलिनता नहीं होती; कोई पूजा करे या निंदा करे, उसमें उन्हें समभाव है; जीवन या मरण के प्रति समभाव है—ऐसी समभावरूप वीतराग परिणति द्वारा शुभाशुभकर्म का आस्रव नहीं होता, परंतु संवर ही होता है। सम्यग्दृष्टि-गृहस्थ को जितने राग-द्वेष हैं, उतना आस्रव है; परंतु उस राग-द्वेष के समय भी सम्यग्दर्शनरूपी संवर चल ही रहा है इसलिये मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियों का आस्रव तो उनको होता ही नहीं। सम्यग्दर्शन भी अपूर्व दशा है और चारित्रदशा तो अत्यंत निर्मल है, उसमें अति संवर है।

मेरा स्वद्रव्य तो शुद्ध चैतन्य है। उस स्वद्रव्य से बाहर परद्रव्य में मेरा कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। जिसप्रकार कोई ईश्वर इस जीव-अजीवमय सृष्टि का कर्ता नहीं है, उसीप्रकार अपनी चैतन्यप्रभुता से परिपूर्ण मैं भी जगत के किसी जीव-अजीव की अवस्था का कर्ता नहीं हूँ। पर में मेरा कर्तृत्व नहीं है तथा वह मुझे इष्ट या अनिष्ट भी नहीं है। जहाँ ऐसा सम्यक् अभिप्राय हुआ, वहाँ राग-द्वेष का जोर टूट गया। जिसे इष्ट या हितकारी माने उसके प्रति ममत्वबुद्धि से राग हुए बिना नहीं रहता और जिसे अनिष्ट या दुःखकारी माने, उसके प्रति द्वेषबुद्धि से द्वेष हुये बिना नहीं रहता; इसप्रकार परद्रव्य में इष्ट-अनिष्टपने की बुद्धि, वह राग-द्वेष का मूल है। जहाँ ऐसी मिथ्याबुद्धि पड़ी हो, वहाँ राग-द्वेष दूर नहीं होते और समभावरूप संवर नहीं होता; इसलिये संवर का पहला मार्ग यह है कि यथार्थ भेदज्ञान करना। पश्चात् स्वरूप में स्थिरता द्वारा शुद्धोपयोग होने से संवर की पूर्णता होती है। शुद्धोपयोग तो साक्षात् निरास्रव है। सम्यग्दर्शन होने पर अत्यंत संवर प्रगट हुआ है, तथापि अभी जितने शुभाशुभ परिणाम हैं, उतना आस्रव भी है; परंतु उस आस्रव को चैतन्यस्वभाव से भिन्नरूप जानते हुए ज्ञानी उसमें तन्मय होकर परिणमित नहीं होते, इसलिये श्रद्धा अपेक्षा से तो उनको भी निरास्रवपना ही है।

भाई, आस्रव क्या, संवर क्या, उन सब तत्त्वों को यथावत् भिन्न जान तो तुझे सम्यग्ज्ञान के मार्ग की प्रसिद्धि हो। अज्ञानी तो आस्रव के कारणरूप शुभराग को संवर के कारणरूप मानता है; आस्रव का मार्ग बहिर्मुख है और संवर का मार्ग अंतर्मुख है—ऐसे भिन्न-भिन्न मार्गों को अज्ञानी नहीं जानता, इसलिये भ्रम से संवर के मार्ग के बदले वह आस्रव के मार्ग पर चढ़ जाता है। खड़ा है आस्रव के बीच और मानता है कि मैं संवर के मार्ग में हूँ—उसके आस्रव कहाँ से रुकेगा? और संवर कहाँ से प्रगट होगा?

संवरदशा अंतर की वस्तु है; बाहर की नहीं है। चैतन्य की निर्मोह-वीतरागी परिणति द्वारा राग-द्वेष-मोहभाव अटक जाये, वह संवर है; ऐसा संवर भाव प्रगट होने से कर्म का आस्रव भी रुक जाता है-वह द्रव्यसंवर है। अंतर की निर्मलदशा को जो नहीं जानता, वह बाहर से संसार का माप करने जाता है। बाह्य में संयोग छोड़कर बैठे और शुभक्रियाओं में उपयोग को जोड़े परंतु भेदज्ञान द्वारा भावशुद्धि न करे तो भावशुद्धि के बिना संवर नहीं होता। भावशुद्धि के बिना भावहिंसा नहीं छूटती, क्योंकि मिथ्यात्वभाव का सेवन ही बड़ी आत्महिंसा है और वह समस्त कर्म के आस्रव का मूल है। जहाँ सम्यक् आत्मभान हुआ, विकार और चैतन्यस्वभाव का भेदज्ञान हुआ, वहाँ उस भेदज्ञान के बल से समस्त आस्रव का मूल छिद गया और अपूर्व संवर का प्रारम्भ हुआ—इसका नाम धर्म और यही मोक्ष का मार्ग है।

सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् अव्रतादि का राग होता है परंतु वह राग सम्यग्दर्शन को बिगाड़ता नहीं है। जिसप्रकार राग द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन की भूमिका में राग हो, उस राग द्वारा सम्यग्दर्शन का नाश भी नहीं होता। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् राग-द्वेष बिलकुल न हों—ऐसा नियम हो, तब तो चौथे और तेरहवें गुणस्थान के बीच कोई अंतर ही न रहे। सम्यग्दर्शन होते ही वीतरागता और केवलज्ञान हो जाता है, परंतु ऐसा नियम नहीं है। सम्यग्दृष्टि को अमुक राग हो, तथापि उसे राग के समय भी उससे भिन्न सम्यग्दर्शनपरिणति की धारा अखंडरूप से बह रही है; इसलिये रागकृत आस्रव और सम्यग्दर्शनकृत संवर, यह दोनों उसे एकसाथ वर्तते हैं। राग हो, वह चारित्रदोष है और राग के साथ तन्मयपरिणति हो जाये, वह श्रद्धा का दोष है। जहाँ श्रद्धा का दोष हो, वहाँ संवरधर्म अंशमात्र नहीं होता। चारित्र का दोष (अस्थिरता के राग-द्वेष) हो, परंतु यदि श्रद्धा सच्ची वर्तती हो तो वहाँ थोड़ा-सा आस्रव और बहुत संवर है।—ऐसे यथार्थ ज्ञान द्वारा मार्ग की प्रसिद्धि होती है। जिसे तत्त्वनिर्णय में भूल हो, उसे मार्ग प्रसिद्ध नहीं होता।

देखो, संवर किसे होता है ?—कि जिसे अशुभ का तो निरोध हो और शुभ का भी निरोध हो—ऐसे विरतयोगी को संवर होता है; इसलिये शुभपरिणाम को संवर का कारण नहीं कहा परंतु शुभपरिणाम के अभाव को संवर का कारण कहा है। शुभपरिणाम तो पुण्यकर्म के आस्रव का कारण है। आस्रव के कारण को जो संवर का कारण माने, उसे वास्तव में संवर नहीं होता, तथा उसे सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि नहीं होती। सम्यग्दृष्टि को यद्यपि अभी शुभाशुभभावों

से सर्वथा निवृत्ति नहीं हुई है, परंतु जो शुभाशुभभाव हैं, उनसे भिन्न चिदानंदस्वभाव को स्वानुभव से जाना है, इसलिये अनुभवदृष्टि में उसे शुभाशुभ का अभाव है; इसलिये शुभाशुभपरिणाम में एकत्वबुद्धि से जो अनंत आस्रव होता था, वह उसके रुक ही गया है; मिथ्यात्वकृत अनंत कर्मों का तो संवर हुआ है और शुभाशुभकृत अल्प आस्रव है। शुद्धोपयोगी मुनि को पूर्ण संवर होता है।

आस्रव का मुख्य कारण क्या और संवर का मुख्य कारण क्या? वह पहले जानना चाहिये। आस्रव का अथवा तो संसार का मूलकारण मिथ्यात्व है; संवर का अथवा तो मोक्ष का मूलकारण सम्यग्दर्शन है। भेदज्ञान करके उपयोग जहाँ निजस्वभाव की ओर झुका, वहाँ शुभाशुभपरिणाम के अभाव से द्रव्यकर्म के आस्रव का भी अभाव हुआ। इसलिये विकार परिणाम रहित अकेली बाह्यक्रिया अथवा योग का कम्पन, वह वास्तव में बंध का कारण नहीं है। उपयोग को किस ओर लगाने से आस्रव रुकता है, उसकी भी जिसे खबर नहीं है, वह उपयोग को कहाँ ले जायेगा? विकारीभाव के बिना अकेला प्रदेशों का कम्पन हो, वहाँ रजकण आकर तुरंत ही चले जाते हैं, आत्मा के साथ वे बँधते नहीं, उसमें स्थिति या रस नहीं होता। इसप्रकार सम्यग्दर्शन और शुद्धोपयोग होने से भावसंवर तथा द्रव्यसंवर होता है; इसलिये संवर का प्रयोग अंतर में है। सम्यग्दर्शन में स्वभाव की शुद्धता का वेदन हुआ और इतना संवर हुआ, तथापि अभी जितने शुभाशुभपरिणाम होते हैं, उतना अशुद्धता का वेदन भी है और उतना आस्रव भी होता है। शुद्धोपयोग द्वारा शुभाशुभभाव रुके, उतना संवर हुआ, और उस शुद्धोपयोग में जितनी वृद्धि हुई, उतनी निर्जरा हुई। इसप्रकार शुद्धोपयोग के बल से नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है और पूर्वकर्मों की निर्जरा होती है; इसलिये शुद्धोपयोग, वह मोक्ष का हेतु है।

ज्ञान

[श्री समयसार-सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचनों से]

(१)

'मैं ज्ञान हूँ, पर का कर्तृत्व मुझमें नहीं है'—ऐसे अकर्ताभाव द्वारा ज्ञानी-संतों ने समस्त परद्रव्यों की ओर से अपनी परिणति को समेट लिया है और उसे निजज्ञान में लगाया है। अहा! अनंत पदार्थों के कर्तृत्व का बोझ सिर से उतार डाला... कितना हलकापन!!

भाई, जीवन में ऐसे ज्ञान के संस्कार डाल तो वे तुझे शरणरूप होंगे, अन्य कोई शरण नहीं होगा। जीवन में भिन्न ज्ञान की भावना भायी होगी तो शरीर छूटते समय ज्ञान दबेगा नहीं; 'मैं तो ज्ञान हूँ'—ऐसी पुकार करता हुआ आत्मा ज्ञान के गहरे संस्कार परभव में भी साथ ले जायेगा। जिसने पहले से भावना भायी होगी, उसी को वह ठीक समय पर काम आयेगी।

ज्ञानी जानता है कि मेरा कार्य पर में नहीं है, पर के कार्य में मैं नहीं हूँ। पर का कार्य मुझमें नहीं है और मेरे कार्य में पर नहीं है। मैं पर को जानता हूँ और परज्ञेय ज्ञान में ज्ञात होते हैं, तथापि मुझमें पर का प्रवेश नहीं है और पर में मेरा प्रवेश नहीं है। सर्व द्रव्य दूसरे द्रव्यों के बाहर ही लौटते हैं; कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं करता। भाई, तेरे ज्ञान में पर का प्रवेश ही नहीं है, वहाँ पर तेरा क्या करेगा? जिसमें पर का कभी प्रवेश ही नहीं है, ऐसा तेरा स्वरूप, उसका निश्चय करके तू निजस्वरूप में ही रह। जगत के सब पदार्थ स्वयं अपने-अपने स्वरूप में रहकर परिणमित हो रहे हैं; अपने स्वरूप से बाहर कोई पदार्थ परिणमित नहीं होता। परमाणु परमाणु के स्वरूप में परिणमित होता है, सिद्ध सिद्ध के स्वरूप में परिणमित होते हैं; अनंत परमाणु तथा अनंत सिद्धपरमात्मा एकक्षेत्रावगाहरूप से स्थित हैं, तथापि सिद्ध कभी परमाणुरूप नहीं होते और परमाणु कभी सिद्धरूप नहीं होता। अरे, एक क्षेत्र में अनंत सिद्ध

विद्यमान हैं, तथापि एक सिद्ध दूसरे सिद्धरूप कभी नहीं होते, कभी एक-दूसरे में मिल नहीं जाते। इसीप्रकार अनंत परमाणु एक क्षेत्र में रहने पर भी कोई परमाणु दूसरे परमाणुरूप होकर परिणमित नहीं होता। इस दृष्टांत से जगत के सर्व पदार्थों में भिन्नता समझना। जिसप्रकार जड़ कभी चेतन होकर परिणमित नहीं होता और चेतन कभी जड़रूप होकर परिणमन नहीं करता; उसीप्रकार जगत का कोई पदार्थ कभी अन्य पदार्थरूप होकर परिणमित नहीं होता, स्व-स्वरूप रहकर ही परिणमन करता है।

कोई कहे कि—वस्तु को परिणमित होने की उपाधि कहाँ से लग गई ? यह पर्याय इसे कहाँ से चिपक गई ? तो कहते हैं कि—अरे भाई ! परिणमन या पर्याय कोई उपाधि नहीं है, वह तो वस्तु का स्वभाव ही है; यदि वस्तु परिणमित न हो तो उसका अभाव ही हो जाये। परिणमन और पर्याय तो सिद्ध में भी है; वह तो वस्तु का स्वभाव है; पर्यायरहित वस्तु हो ही नहीं सकती। सिद्ध को जो पर्याय होती है, वह शुद्ध होती है, इसलिये पर्याय स्वयं कोई उपाधि नहीं है, परंतु पर्याय में जो राग-द्वेष-मोहादि विकारभाव जीव करता है, वे स्वभावरूप न होने से उपाधिरूप हैं। रागादि को निकाल देने के लिये कोई पर्याय को ही आत्मा में से निकाल देना चाहे तो पर्याय बिना आत्मा रहेगा ही कहाँ से ? इसलिये पर्याय को वस्तु में से निकाल नहीं देना, परंतु पर्याय को स्वाश्रय की ओर ले जाने से विकारभाव की उपाधि निकल जाती है।

आत्मा का ज्ञान पर को जाने तो उसके कहीं ज्ञान में पर की उपाधि नहीं आ जाती; ज्ञान स्वयं ही वैसे ज्ञाताभावरूप परिणमित होता है। ज्ञान स्वयं ज्ञानरूप परिणमित होता है, वहाँ ज्ञान का ज्ञेय के साथ संबंध कहना, वह व्यवहार है। परमार्थतः ज्ञान का पर के साथ कोई संबंध नहीं है।

भाई, जीवन में ज्ञान के संस्कार डाल तो वे तुझे शरणभूत होंगे; संयोग कहीं तुझे शरणभूत नहीं होंगे। भिन्न ज्ञान की भावना जीवन में भायी होगी तो शरीर छूटते समय ज्ञान दबेगा नहीं— 'मैं तो ज्ञान हूँ'—ऐसी पुकार करता हुआ आत्मा ज्ञान के गहरे संस्कार परभव में भी साथ ले जायेगा। परंतु जिसने पहले से ही भावना भायी होगी, उसी को ठीक समय पर उसका फल प्राप्त होगा।

मैं ज्ञान हूँ, पर का कर्तृत्व मुझमें नहीं है—ऐसे अकर्ताभाव द्वारा ज्ञानी-संतों ने अनंत परद्रव्यों की ओर से अपनी परिणति को समेट लिया है और उसे निजज्ञान में लगा दिया है।

अहा, कितना हलकापन!! अनंत पदार्थों के कर्तृत्व का बोझ सिर से उतार दिया और ज्ञान अत्यंत हलका—निराकुल-शांत हुआ।

ज्ञान में जब परद्रव्य हैं ही नहीं, तो उसे अनुकूलता क्या और प्रतिकूलता क्या? ज्ञान परज्ञेय को जानता है, वहाँ भी ज्ञान तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता। जैसे—खड़ी (चूना) वह खड़ी रूप से ही (अपनी सफेदी में ही) विस्तार को प्राप्त करती है, खड़ी कहीं दीवाररूप से विस्तार को प्राप्त नहीं करती; खड़ी फैलकर कहीं दीवाररूप नहीं होती; खड़ीरूप ही रहती है; उसीप्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप से ही विस्तार प्राप्त करता है, वह कहीं परज्ञेय में विस्तृत नहीं होता; आत्मा विस्तृत होकर कभी परज्ञेय में नहीं जाता, ज्ञानस्वरूप में ही रहता है। कितना स्पष्ट भेदज्ञान!!—ऐसा भेदज्ञान करे तो स्वाश्रय में कितनी शांति का अनुभव हो?

अंतर में ज्ञान ने राग को जाना तो क्या ज्ञान रागरूप हो गया?—नहीं; ज्ञान का विस्तार तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञान का विस्तार रागरूप नहीं है। ज्ञान रागरूप हुए बिना ही राग को जानता है, इसलिये ज्ञान राग को जानता है, वह व्यवहार है; ज्ञान ज्ञान ही है, यह निश्चय है। राग को जानते हुए कहीं 'राग का ज्ञान' नहीं है, 'ज्ञान का ही ज्ञान' है। इसप्रकार ज्ञान को सर्व परभावों से भिन्न देखना, वह सम्यग्दर्शन है।

यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञान पर का तो नहीं है; 'राग का ज्ञान' भी नहीं है और 'ज्ञान का ज्ञान' ऐसा कहना, उसमें भी भेदरूप व्यवहार है; क्योंकि ज्ञान से भिन्न अन्य कोई ज्ञान नहीं कि जिसका यह ज्ञान हो। इसलिये 'ज्ञान का ज्ञान' ऐसा स्व-स्वामी अंश के भेद करने में भी व्यवहार है, उस व्यवहार से वास्तव में कुछ साध्य नहीं है। इसलिये 'ज्ञान' वह 'ज्ञान' ही है; इसप्रकार एक ज्ञान को ही सर्व भेदभावों से रहित स्वसंवेदन में लेना, सो परमार्थ है।

चेतयिता अर्थात् चेतनेवाला आत्मा, वह ज्ञानगुण से भरपूर पदार्थ है। आत्मा का झण्डा ज्ञान है, ज्ञान झण्डा सदैव परभावों से ऊँचे का ऊँचा, पृथक् का पृथक् रहता है। ऐसे ज्ञान झण्डे को प्रतीति में लेकर ज्ञानी कहते हैं कि 'झण्डा ऊँचा रहे हमारा।'

यहाँ तात्त्विक संबंध का विचार करने से अर्थात् सच्चे संबंध का विचार करने से चेतयिता को पर के साथ तो कोई संबंध है नहीं, क्योंकि यदि चेतयिता जड़ का हो तो वह स्वयं जड़ हो जाए। तात्त्विक संबंध ऐसा है कि जो जिसका हो, वह वही होता है; ज्ञान आत्मा का है

इसलिये ज्ञान, वह आत्मा ही है। उसीप्रकार ज्ञानपर्यायरूप से परिणमित होता हुआ चेतयिता पर को जानते हुए पर का नहीं है परंतु चेतयिता का ही चेतयिता है; अपने सामर्थ्य से सर्व को जाननेरूप परिणमित हुआ, इसलिये लोकालोक का ज्ञाता कहा, वह व्यवहार है; वास्तव में ज्ञाता लोकालोक का नहीं है, ज्ञाता ज्ञाता का ही है—ऐसा भेद भी परमार्थ में नहीं है; 'ज्ञाता है' वह ज्ञाता ही है—यह परमार्थ है।

आत्मा का स्वरूप ज्ञान है और ज्ञान, वह आत्मा है—तात्त्विकदृष्टि से देखने पर ऐसा संबंध जीवंत है; परंतु ज्ञान का पर के साथ कर्ताकर्मपना हो, ऐसा कोई संबंध तत्त्वदृष्टि में जीवंत नहीं है अर्थात् तत्त्वदृष्टिवंत ज्ञानी को पर के साथ कर्ता-कर्मभाव किंचित् भासित नहीं होता। ज्ञान को परज्ञेय के साथ कुछ भी तात्त्विक संबंध नहीं है। यदि पर को जाननेवाली ज्ञानपर्याय पर में चली जाए, तब तो चेतयिता के स्वद्रव्य का ही नाश हो जाये; ज्ञानपर्याय का नाश होने से आत्मा का ही नाश हो जायेगा। ज्ञानपर्याय तो सर्व परद्रव्यों से पृथक् की पृथक् आत्मा में ही तन्मय रहती है।

सम्यग्दर्शन होने पर कैसे अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है—उसका स्वरूप आचार्यदेव ने अलौकिक रीति से समझाया है। चेतयिता के अनुभव में किसी भेद का—विकल्प का अवलंबन है ही नहीं। भेद के राग की दीवार बीच में रखकर आत्मा का अनुभव नहीं होता। भाई, तुझे अपने शुद्ध आत्मा को ध्येय करना हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान सिद्ध करना हो तो ज्ञान को अंतर्मुख करना ही उसकी रीति है; परंतु 'यह मेरा स्व और मैं उसका स्वामी'—इसप्रकार अकेले अपने में स्व-स्वामी अंश के भेद डालना उस भेदरूप व्यवहार द्वारा कुछ साध्य नहीं है। अहा, अंतर का अंतिम से अंतिम जो सूक्ष्म व्यवहार... आचार्यदेव कहते हैं कि उस व्यवहार से भी कुछ भी साध्य नहीं है। भगवान आत्मा महान पदार्थ है, वह ऐसा नहीं है कि विकल्प द्वारा हाथ में आ जाये।

देखो, व्यवहार से पार ऐसा शुद्ध अनुभव चौथे गुणस्थान से प्रारंभ हो जाता है; ऐसा अनुभव जिसने किया है, वह गृहस्थ भी मोक्षमार्गी है और ऐसे अनुभव रहित मोही साधु, वह मोक्षमार्गी नहीं है; यह बात समंतभद्र महाराज ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में की है। अहा, मोक्षमार्ग अंतर में कहाँ है, उसकी लोगों को खबर नहीं है, तो उसकी खबर बिना कार्य सिद्धि कहाँ से होगी? स्वतत्त्व के वेदन में 'मैं अपना ही हूँ' ऐसे विकल्प की वृत्ति का उत्थान ही कहाँ

है ? क्या तुझे विकल्प में से चैतन्यतत्त्व को साधना है ?

यह 'समयसार' की बात है। समयसार कौन है ? राग या विकल्प, वह कहीं समयसार नहीं है। विकल्परहित शुद्धात्मा की अनुभूति, वह समयसार है। पक्ष से अतिक्रांत अर्थात् व्यवहार के विकल्पों से पार ऐसे आत्मा के स्वानुभवरूप जो परिणमित हुआ, वही समयसार है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की प्रथम दशा ऐसी होती है। ऐसी दशा के बिना अन्य किसी प्रकार सम्यग्दर्शन की सिद्धि नहीं होती। 'यही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है'—ऐसा जब तक निर्णय न करे, तब तक वीर्य का वेग उस ओर नहीं बढ़ता। अहा, चैतन्यराजा! राग द्वारा उस राजा से भेंट नहीं होती। उस राजा से भेंट करने के लिये तो अंतर्दृष्टि की अनोखी भेंट देना चाहिये।

अहा, ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप आत्मा को पर से अत्यंत निरपेक्षता है। जिसमें पर के संबंध की अपेक्षा नहीं है, राग के साथ भी जिसे संबंध नहीं है, ऐसे निरपेक्षज्ञान को एक बार लक्ष में ले तो जीव की बुद्धि शुद्ध द्रव्य में प्रविष्ट हो जाये; फिर उसे अपने में परद्रव्य का किंचित् आभास न हो अर्थात् अकेला ज्ञान ज्ञानरूप से निजस्वरूप में ही परिणमित होता रहे। ज्ञानसामर्थ्य पर को जानती अवश्य है, परंतु उससे कहीं ज्ञान पर का नहीं हो जाता या ज्ञान मलिन नहीं हो जाता। रागादि मलिन भावों को जानने से ज्ञान कहीं मलिन नहीं हो जाता, ज्ञान तो विशुद्ध ज्ञानरूप ही रहता है।

ज्ञानी कहते हैं कि—भाई, तू भगवान है... तेरा स्वभाव तेरे गुणों से परिपूर्ण है, वह कहीं बाहर से नहीं आता। जिसप्रकार आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है, उसीप्रकार वह पर के त्यागरूप स्वभाव से परिपूर्ण है। आत्मा का स्वभाव ही सर्व परद्रव्य के त्यागरूप है। परद्रव्य कहीं आत्मा में घुस नहीं गये हैं, उन्हें बाहर निकालना पड़े। अपोहक अर्थात् त्याग करनेवाला आत्मा, उसने पर का त्याग किया, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है; वहाँ वास्तव में आत्मा कहीं पर का नहीं है। आत्मा पररूप होकर पर को नहीं छोड़ता, पर से तो पृथक् ही है और पृथक् ही था; परंतु जहाँ ज्ञान-दर्शन में स्थिर हुआ और पर की ओर का राग नहीं रहा, वहाँ उसने परद्रव्य का त्याग किया, ऐसा कहा जाता है। जिसप्रकार ज्ञान है, वह परज्ञेय का नहीं है, ज्ञान ज्ञान ही है; उसीप्रकार त्यागभावरूप परिणमित अपोहक (आत्मा), वह त्याज्य ऐसे परद्रव्यों का नहीं है, अपोहक स्वयं अपोहक ही है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र के निर्मलभावरूप परिणमित

आत्मा का स्वयं अपने में ही समावेश होता है, उसे परनिमित्तों के साथ संबंध नहीं है।

भाई, जगत के वाद-विवाद में कुछ नहीं मिलेगा; उसकी अपेक्षा तो अंतर में चैतन्य के गुणों का मंथन कर तो तुझे कुछ प्राप्त होगा। तेरे निर्मल भाव तुझमें से ही प्रगट होते हैं और तुझमें ही समाते हैं। तेरे सम्यग्दर्शनादि कोई भाव पर में से नहीं आते और पर में नहीं जाते। बस, अंतर्मुख हो। (—शेष अगले अंक में)

कहान ६वीं

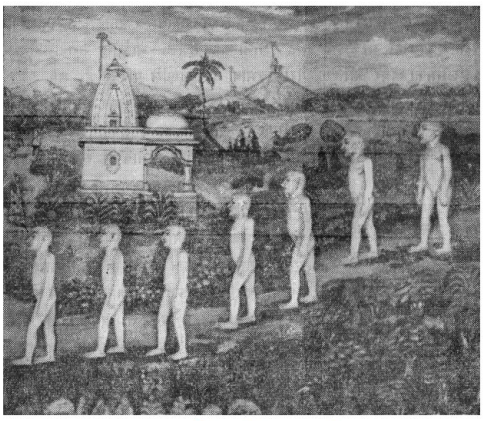

सप्तऋषि मुनि भगवंत

सप्तर्षि मुनि भगवंत

२०वें तीर्थंकर के शासन की बात है। इस धन्य काल में एक ही साथ सात मुनिवर इस भरतभूमि को पावन कर रहे थे; मनु, सुरमनु, निचय, सर्वसुंदर, जयवान, विनय और संजय ये सातों ही मुनिवर सगे भाई थे, महाऋद्धिधारी थे, और चरम शरीरी थे। इस समय मथुरा नगरी में राजा शत्रुघ्न राज्य करते थे, चरमेन्द्र का घोर मरकी का उपद्रव वहाँ हो रहा था। ऐसे में ये सातों आकाशविहारी मुनिवर मथुरानगरी में पधारे। उनके प्रभाव से मरकी का घोर उपद्रव शांत हो गया, फलफूलों से नगरी खिल उठी... नागरिकों का हृदय भी भक्ति से खिल उठा। संपूर्ण नगरी ने आनंदोत्सवपूर्वक मुनिवरों का दर्शन-पूजन किया। मथुरा में आज भी इन सप्तर्षि भगवंतों की प्रतिमा सुशोभित हो रही है।

मथुरा में चातुर्मास में ये मुनिवर अयोध्यातीर्थ की वंदना करने गये परंतु अर्हतदास सेठ ने भ्रम से उन्हें स्वेच्छाचारी मानकर उनका आदर नहीं किया; परंतु बाद में उनकी महिमा की खबर मिली, तब मथुरा जाकर भक्ति से उनका वंदन-पूजन किया। सीताजी ने अयोध्यापुरी में इन मुनिवरों को भक्तिपूर्वक आहारदान दिया था।

जगत् मंगलकारी इन मुनिभगवंतों को नमस्कार हो।

कहानी ७वीं

श्रेणिक महाराज को धर्मप्राप्ति

महारानी चेलना श्री यशोधर मुनिवर का उपसर्ग दूर करती है, श्रेणिक राजा जैनधर्म के श्रद्धावान बनते हैं। (भगवान कुन्दकुन्द प्रवचन मंडप दीवार-चित्र)

जैनधर्म की परमभक्त रानी चेलना उदास थी,.... बहुत-बहुत समझाने पर भी राजा श्रेणिक को जैनधर्म में श्रद्धा आती ही नहीं थी।

परम जैन संत यशोधर मुनिराज जंगल में ध्यानस्थ थे; राजा श्रेणिक ने उन्हें द्वेषबुद्धि द्वारा देखा और 'यह तो दंभी है' इसप्रकार के मुनि प्रति द्वेष से उनके गले में सांप डाल दिया। राज्य में आकर रानी चेलना को अपने पराक्रम की बात बतलाई। यह सुनते ही रानी चेलना का भक्तहृदय आकुल-व्याकुल हो गया। उदास होकर मुनिराज का उपसर्ग दूर करने के लिये वह तत्पर हुई। श्रेणिक कहता है कि; 'अरे, तेरा गुरु तो कभी का सांप दूर करके अन्यत्र चला गया होगा।'

'नहीं राजन' चेलना ने कहा—आत्मसाधना में लीन मेरे गुर को, वीतरागी जैनसंतों को, शरीर का ऐसा ममत्व नहीं होता। वह ऐसे के ऐसे ही बैठे होंगे। अगर आपको प्रत्यक्ष देखना हो तो मेरे साथ चहिये।

राजा और रानी दोनों वहाँ जाते हैं, यशोधर मुनिराज वैसे के वैसे ही समाधि में बैठे हैं। रानी अति भक्तिपूर्वक साँप को दूर करती है-निकालती है। राजा तो यह देखकर स्तब्ध रह गया... उसका द्वेष पिघल गया, हृदय गद्‌गद् हो गया। इसी समय ध्यान पूर्ण होने पर मुनिराज ने राजा और रानी दोनों को 'धर्मवृद्धि' का एक सा आशीर्वाद दिया। मुनिराज की ऐसी महान समता देखकर राजा श्रेणिक चकित हो गया—'धन्य है ऐसे जैन मुनिराज को! धन्य है ऐसे वीतरागी जैनधर्म को!'—ऐसे बहुमानपूर्वक अपने अपराध की क्षमा माँगी, राजा जैनधर्मी हो गया, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

—उस समय चेलनारानी की प्रसन्नता का क्या कहना!

कहानी ८वीं

अकंपनाचार्य की अडिगता... विष्णुकुमार की वत्सलता

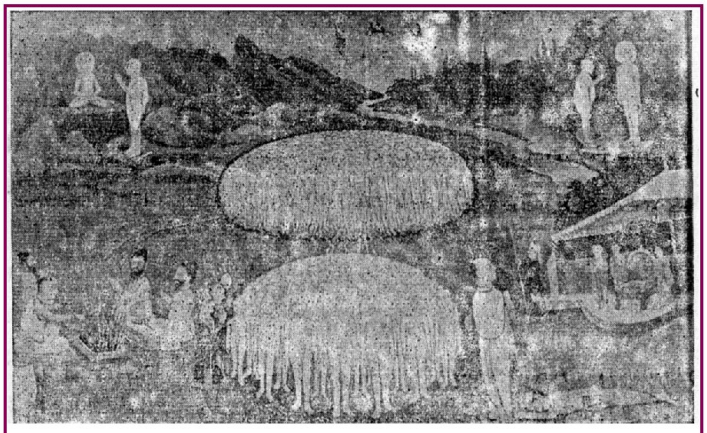

बलिराजा अकम्पनादि ७०० मुनियों को उपसर्ग करता है, श्री विष्णुकुमार मुनि महातपस्वी हैं, विक्रिया ऋद्धि द्वारा वामन रूप धारण करके उस उपसर्ग को शांत

निर्दोष वात्सल्य का प्रतीक रक्षाबंधन का पर्व जैनों का एक महान ऐतिहासिक पर्व है। ७०० मुनिवरों की रक्षा का और धर्म रक्षण की महान वात्सल्य भावना का प्रसंग इस पर्व के साथ जुड़ा हुआ है। यह प्रसंग हस्तिनापुरी में बना था। पहिले अकंपनाचार्य ७०० मुनियों के संघ सहित उज्जैन नगरी में पधारे, दुष्ट मंत्रियों के साथ राजा उनकी वंदना करने जब गया, तब अवसर का विचार कर आचार्य ने संघ को मौन धारण करने का आदेश दिया। इसमें संघरक्षा का वात्सल्य दिखलाई देता है। दो मुनियों ने जो बाहर रह गये थे और जिन्हें आचार्य की आज्ञा का ज्ञान नहीं था—मंत्रियों को वाद-विवाद में चुप करा दिया, जिससे वे ईर्षावान मंत्री रात्रि को मुनियों पर प्रहार करने के लिये तैयार होते हैं, तब जैनधर्म का भक्त यक्षदेव उनकी रखा करके भक्तिभरा वात्सल्य प्रगट करता है।

बाद में इन ७०० मुनियों का संघ हस्तिनापुर में आता है, और अपमानित हुए मंत्री (बलिराजा वगैरे) घोर उपद्रव करते हैं... यह उपसर्ग दूर न हो, तब तक अन्न जल का त्याग कर हस्तिनापुर के श्रावकजन धर्मात्माओं के प्रति महान वात्सल्य और परम भक्ति व्यक्त करते हैं। दूसरी ओर मिथिलापुरी में आचार्य श्रुतसागर भी मुनिवरों के ऊपर होते हुए उपसर्ग को देखकर नहीं रह पाते और तीव्र वत्सलता के कारण मौन टूटकर 'हा...' ऐसा उद्‌गार उनके मुँह से निकल जाता है। महान ऋद्धिधारक मुनिराज विष्णुकुमार सब बातें जानकर वात्सल्य भाव से प्रेरित होते हैं और युक्तिपूर्वक ७०० मुनिवरों की रक्षा करते हैं... हस्तिनापुर में जय-जयकार की तुमुल ध्वनि होती है.... बलिराजा भी माफी माँगकर जैनधर्म का श्रद्धालु बनता है। विष्णुकुमार पुनः मुनि होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

— वात्सल्य का महान दिवस—अर्थात् श्रावण सुदी पूनम —

ज्ञानतत्त्व में पर का अकर्तृत्व

[समयसार - सर्वविशुद्ध अधिकार के प्रवचनों से]

'विकार का कर्ता कौन ?' और धर्मात्मा के श्रद्धा-ज्ञान कैसे होते हैं—इस संबंधी सुंदर स्पष्टीकरण श्रावण-भाद्रपद मास के प्रवचनों में आया था; उनमें से सारभूत भाग यहाँ दिया गया है। उनमें स्वामीजी कहते हैं कि—जिसप्रकार मुनि लौकिक कार्यों का बोझा सिर पर नहीं रखते, उसीप्रकार ज्ञानी-धर्मात्मा व्यवहार के अवलंबन का बोझ नहीं रखते अर्थात् व्यवहार के अवलंबन से मुझे लाभ होगा अथवा इस व्यवहार के अवलंबन में मुझे अधिक काल तक रुकना चाहिये।—ऐसी भावना ज्ञानी को नहीं है; अपने एक परमार्थ स्वभाव में ही मैं तत्पर हूँ, उसी के अवलंबन में रुचि-उत्साह एवं भावना है।

धर्म कैसे होता है ? और धर्मात्मा के श्रद्धा-ज्ञान कैसे होते हैं ? वह यहाँ समझाते है।

मेरा ज्ञानस्वभावी आत्मा चैतन्यसूर्य है, उसमें परद्रव्य का संबंध अंशमात्र नहीं है। अरे, राग का एक कण भी मेरे स्वभाव का है—ऐसा ज्ञानी स्वप्न में भी नहीं मानते। किसी भी प्रकार ज्ञानी परद्रव्य को अपना नहीं मानते और निजस्वभाव में व्यवहार के-राग के कणमात्र को भी स्वीकार नहीं करते। पर के संबंध से रहित और राग से भी पार ऐसे सर्व प्रकार से विशुद्ध एक ज्ञानस्वभाव का ही धर्मी जीव अपने रूप से अनुभव करते हैं। उस स्वानुभव में व्यवहार का किंचित्मात्र अवलंबन नहीं है।

जिसप्रकार जगत के व्यवहार में 'यह मेरा ग्राम, यह मेरा देश'—ऐसा कहा जाता है; वहाँ वास्तव में कोई अपने को किसी ग्राम का या देश का स्वामी माने तो लोक में वह मूर्ख है। उसीप्रकार जीव, परद्रव्य को या परभाव को अपने स्वभाव का माने, वह परमार्थ में मूर्ख है। ज्ञानी निजस्वभाव में परभाव को किंचित् आदरणीय नहीं मानते। व्यवहार का-पराश्रय का किंचित् भी आदर करने जाये तो ज्ञानस्वभाव का अनादर होता है।

अरे भाई, तू शुद्धज्ञानतत्त्व; तेरी और आस्रव की एकता कैसी ? मैं तो ज्ञानतत्त्व हूँ, आस्रवतत्त्व ज्ञान से पृथक् है, वह मैं नहीं हूँ—इसप्रकार ज्ञानी दोनों का भेद जानता है। ऐसा भेद जानकर ज्ञानस्वभाव का आश्रय एवं उपासना करना, वह धर्म है।

चिदानंदस्वभाव की श्रद्धा या अनुभव करने में मुझे परद्रव्य कुछ भी सहायक हैं या व्यवहार का आश्रय कुछ सहायक है—ऐसा कोई माने तो वह जीव नि:शंकरूप से मिथ्यादृष्टि है। मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ और ज्ञानस्वभाव के अवलंबन से ही उसकी श्रद्धा तथा अनुभव होता है, उसमें अन्य किसी का अवलंबन नहीं है।

जैसे—धूल के ढेर में शुद्ध स्फटिकमणि पड़ा हो; तो कहीं वह स्फटिकमणि धूल के ढ़ेर के साथ एकमेक नहीं हो गया है; उसीप्रकार धूल के ढ़ेर समान यह जो पुद्गल पिण्ड (शरीर), उसके बीच चैतन्यचिन्तामणि पड़ा है; वह कहीं पुद्गल पिण्ड के साथ एकमेक नहीं हुआ है। संयोग के ढ़ेर में चैतन्य भगवान दब नहीं गया है। एक परमाणु या त्रिलोकीनाथ परमात्मा—इन सर्व परद्रव्यों से मेरा आत्मा पृथक् है... अरे, सूक्ष्म राग की वृत्तियों (गुणभेद के व्यवहार की वृत्तियों) से भी चिदानंदस्वभाव पृथक् का पृथक् है। ऐसे आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में ले वही ज्ञानी है। आठवीं गाथा में कहा है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेदरूप व्यवहार बीच में आता है, परंतु वह अनुसरण करनेयोग्य नहीं है; व्यवहार के अनुसरण से कहीं परमार्थ का अनुभव नहीं होता। इसलिये कहते हैं कि बुधजनों को आत्मज्ञान के सिवा अन्य कार्य में तत्पर नहीं होना चाहिये। व्यवहार बीच में आता है परंतु वह व्यवहार बढ़ाने जैसा नहीं है—उसकी रुचि करने योग्य नहीं है। जिसप्रकार मुनि लौकिक कार्यों का बोझ सिर पर नहीं रखते, उसीप्रकार ज्ञानी-धर्मात्मा व्यवहार के अवलंबन से मुझे लाभ होगा या इस व्यवहार के अवलंबन में मुझे दीर्घ काल तक रुकना पड़ेगा—ऐसी भावना ज्ञानी को नहीं है। अपने एक परमार्थ स्वभाव में ही मैं तत्पर हूँ, उसी के अवलंबन में रुचि, उत्साह और भावना है।

जो सम्यग्दर्शनरहित है वही परभाव की रुचि करता है और वही 'परद्रव्य में मेरा'—ऐसा मानता है। अरे, चैतन्यपिण्ड पवित्र शुद्ध है, उसमें अज्ञानी राग की चिकनाई लगाता है। अरे, मेरे चैतन्य में राग की चिकनाई नहीं है; मेरे चैतन्यतत्त्व पर परभाव का बोझ नहीं है; ऐसी श्रद्धा करके स्वसन्मुख हो तो आत्मा बिल्कुल हल्का हो जाये। जहाँ अकर्तृत्व प्रगट हुआ और आत्मा साक्षीरूप से-ज्ञाताभावरूप से—परिणमित हुआ, वहाँ उसे क्या चिन्ता? और काहे का बोझ? सारा बोझ उसके सिर से उतर गया... और छुटकारे की हवा लग गई।

अरे जीव! संतों ने तुझे तेरी ज्ञान निधि बतलाई, अब तू अकेला एकांत में (अर्थात् स्वभाव की गुफा में) जाकर उस ज्ञाननिधि का उपभोग करना। क्योंकि जगत में तो अनेक

प्रकार के विविध प्रकृतियों के जीव हैं; किसी को रुचे किसी को न रुचे, वहाँ तू किसी के साथ वाद-विवाद में न पड़ना और स्व-गृह में बैठे-बैठे अंतर में अपनी ज्ञाननिधि को भोगना...स्वभाव सन्मुख होने में तत्पर होना; जगत की ओर देखने में मत रुकना।

आत्मा भूले तो क्या करे ? कि स्वयं अपने ज्ञान आनन्द का अनुभव छोड़कर विकार का अनुभव करता है और राग-द्वेष का कर्ता होता है; परंतु अपने भाव की भूमिका से बाहर तो वह कुछ नहीं करता। आत्मा राग-द्वेष करे और उसे कर्मबंध हो, वहाँ उस निमित्त-नैमित्तिक संबंध को देखकर उसमें अज्ञानी कर्ताकर्मपना मान लेता है। भाई, वस्तुस्वभाव का ऐसा नियम है कि एक का कार्य दूसरे में नहीं होता।

अरे, ऐसे वस्तुस्वभाव को जो नहीं जानते और पर में कर्तृत्व मानते हैं, वे जीव बेचारे पुरुषार्थ को हार गये हैं; निजस्वभाव के वेदन में उनका पुरुषार्थ नहीं चलता और परिणति बाह्य में ही फिरती रहती है। राग में भी एकमेक होना ज्ञान का स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव को भूलकर तू अपने चैतन्य तेज को अज्ञान में कहाँ डुबोये दे रहा है ?

मिथ्यादृष्टि जीव को संबोधन करके आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि—अरे जीव! तू अपने आत्मा को अकर्ता देख! तेरा ज्ञान पर का कर्ता नहीं है—ऐसे ज्ञान को तू देख! अपना कर्तृत्व अपने भाव में देख, परंतु पर में न देख। चेतन का कर्तृत्व चेतन में होता है, जड़ में नहीं होता। चेतन जो कार्य हो, वह चेतन ही होता है।

आत्मा में जो मिथ्यात्वादि भाव होते हैं, उनका कर्ता वह आत्मा ही है; पुद्गल का उसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। विकार में पचास प्रतिशत कर्तृत्व आत्मा का और पचास प्रतिशत कर्म का—ऐसे दो कर्ता नहीं हैं। यदि दोनों इकट्ठे होकर करें तो उसका फल भी दोनों भोगें; परंतु अचेतन कर्म को तो कहीं सुख-दुःख का उपभोग है नहीं।

तथा जीव जिसप्रकार विकारभाव को करता है, उसीप्रकार यदि जड़कर्म को भी करे तो चेतन का कार्य चेतन ही होता है—इस न्याय से, उस जड़ कर्म को चेतनता का प्रसंग आ जायेगा।

यहाँ अस्ति-नास्ति से युक्ति द्वारा आचार्यदेव ने आत्मा और जड़ के स्पष्ट विभाग करके, परस्पर कर्ताकर्मपने का अत्यंत निषेध किया है। अज्ञानभाव की भी मर्यादा इतनी है कि वह अपने विकारभाव को करे, परंतु जड़ में तो कुछ भी नहीं कर सकता।

जीव निजस्वभाव से च्युत होकर पुद्गल कर्म के आश्रय से परिणमित होता है, तभी मिथ्यात्वादिभाव होते हैं और उन भावकर्मों का कर्ता जीव स्वयं है। तथा उससमय पुद्गलद्रव्य जीव के विकारी परिणाम का आश्रय करके (उसके निमित्त से) मिथ्यात्वादि कर्मरूप परिणमित होता है, वह अचेतन है, उसका कर्ता अचेतन है। जीव के भाव का कर्ता जीव, और अजीव के भाव का कर्ता अजीव है।

भाई, विकारभाव का संबंध आत्मा के साथ है; आत्मा के अस्तित्व में वह भाव होता है; इसलिये वह विकारभाव कोई दूसरा नहीं कराता परंतु तू ही अपने अपराध से उसका कर्ता है—ऐसा तू स्वीकार कर; और वह विकार तेरे स्वभावभूत नहीं है—ऐसा जानकर उसमें से एकत्वबुद्धि छोड़।

कर्म, आत्मा को विकार करायें—यह बात तो मूल में से उखेड़ दी है; आत्मा और जड़ की अत्यंत भिन्नता है, उनके कार्य की अत्यंत भिन्नता है—उसका जिसे निर्णय नहीं है, वह तो पर से विमुख होकर कब स्वभावोन्मुख होगा? फिर अपने में भी ज्ञानभाव तथा रागभाव दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है—इसका निर्णय तो अति सूक्ष्म है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, पर के साथ तू इतना अधिक संबंध मानता है कि पर मेरा हित-अहित करता है; परंतु परद्रव्य तो तुझे स्पर्श भी नहीं करता, वह तो तेरे स्वरूप से बाहर का बाहर ही रहता है। भाई, अपना उपयोग तू तत्त्वनिर्णय में लगा; परद्रव्य मुझे रोकता है—ऐसा मानकर यदि तू अटक जाता हो तो ऐसी जिन की आज्ञा नहीं है। जिन-आज्ञा तो ऐसी है कि—तू अपने स्वभाव का पुरुषार्थ कर, वहाँ कर्म स्वयंमेव हट जायेगा। तेरे गुण-दोष का उत्पादक दूसरा कोई नहीं। अज्ञानभाव से तू अपने दोष का कर्ता है, और ज्ञानभाव से उस विकार का कर्तृत्व दूर हो जाता है, इसलिये ज्ञानभाव से आत्मा का विकार अकर्ता है; पर के कर्तृत्व की तो बात ही नहीं है।

आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि हे भाई! आत्मा के भाव को दूसरा कोई करता है, ऐसा यदि तू माने, तो आत्मा को सर्वथा अकर्ता ही माने तो उसमें जिनवाणी से विरुद्ध मान्यता द्वारा तू ही अपने आत्मा का घात करता है; उसमें तीव्र मिथ्यात्व के सेवन से आत्मा के गुणों का घात होता है। ऐसे आत्मघात से तुझे बचना हो और अपने गुण की रक्षा करना हो तो तू जिनवाणी के अनुसार वस्तुस्थिति को जान।

आत्मा स्वयं ही अपने विकारी या निर्मल भावों का कर्ता है। जो औदयिकभाव हैं, उन भावों को स्वतंत्ररूप से आत्मा ही करता है। धर्मरूप जो औपशमिकादि भाव हैं, उन भावों का कर्ता भी आत्मा स्वयं ही अपने छह कारकों से है, उसमें किन्हीं अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। अहा, ऐसी स्वतंत्रता का जो निर्णय करे, वह स्वयं अपना घात कैसे करेगा? वह अकेले विकार के कर्तृत्व में कैसे रहेगा? वह तो स्वाश्रयपूर्वक ज्ञानभाव से विकार का कर्तृत्व छोड़कर सम्यग्दर्शनादि भावरूप परिणमित होगा।

सम्बोधन

१. अरे जीव! जिनस्वरूप को देखने के लिये तू हजार सूर्य जैसा बन।
२. जो चैतन्य का ध्यान करता है, वह मोक्ष सुख को पाता है।
३. चैतन्यरूपी किले में बाहर की किसी प्रतिकूलता का प्रवेश नहीं है।
४. एक बार आत्मा से प्रीति कर और संसार की प्रीति छोड़।
५. आत्मा निजभाव को कभी छोड़ता नहीं है और परभाव को कभी ग्रहण नहीं करता है।
६. घबड़ाने से मार्ग नहीं मिलता किंतु धैर्य और विचार से मार्ग मिलता है।
७. स्वानुभूति का सुख जगत में सर्वोत्तम है।
८. जिसने राग-द्वेष किया, वह हारा और जिसने शांति रखी, वह जीता।
९. इस जगत में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो वैरागी जीव को बाँध सके।
१०. किसी भी वस्तु का निजस्वभाव अपूर्ण नहीं हो सकता।

ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि

[भाद्रपद मास में हुए पंचास्तिकाय-प्रवचनों का दोहन]

जीव और अजीव के स्वरूप का वास्तविक भेद जानना, वह ज्ञानियों के सम्यक् मार्ग की प्रसिद्धि का कारण है। सम्यक् मार्ग की प्रसिद्धि के लिये संतों ने जीव-अजीव का भिन्न स्वरूप जैसा है, वैसा बतलाया है; उसे जानने से स्वाश्रयरूप वीतरागभाव प्रगट होता है। अहो, संतों ने जीव-अजीव का स्पष्ट भेदज्ञान कराके सम्यक् मार्ग को प्रसिद्ध किया है... जगत को सम्यक् मार्ग बतलाकर उपकार किया है।

जीव-पुद्गल की भिन्नता के निर्णय में वीतरागभाव

जगत में जीव और पुद्गल संयोगरूप से एकक्षेत्र में स्थित होने पर भी दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। पुद्गलमय ऐसा शरीर और ज्ञानमय ऐसा जीव—यह दोनों पृथक् ही हैं; वर्तमान में भी दोनों का स्वरूप पृथक् ही है। शरीर और अशरीरी अर्थात् शरीर और आत्मा, दोनों भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वरूप में परिणमित हो रहे हैं। *शरीर तो मूर्त-स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि भावोंरूप परिणमित हो रहा है और शरीरी-आत्मा तो अमूर्त-ज्ञान-दर्शन-आनन्दादि भावोंरूप परिणमित हो रहा है।—इसप्रकार ज्ञानी दोनों के भिन्नस्वरूप को जानता है और अज्ञानी दोनों को एकमेक मानकर भ्रम से प्रवर्तता है। कोई ज्ञानी-मुनि उपदेश देते हों, वहाँ उपदेश के शब्द वर्णादिक मूर्तभावरूप से भिन्न परिणमित होते हैं और उपदेशक ज्ञानी का ज्ञान, उनका अभिप्राय वह अमूर्तज्ञानभावरूप शब्दों से भिन्न ही वर्तता है। उस अमूर्तज्ञान में मूर्तवाणी का कर्तृत्व नहीं है और वे मूर्त शब्द कर्ता होकर श्रोता को ज्ञान उत्पन्न करें, ऐसा भी नहीं होता। श्रोता का आत्मा स्वयं अपने स्वरूप से ही अपने ज्ञानभावरूप से परिणमित होता है। ऐसे स्वाधीन स्वरूप के निर्णय में स्वाश्रय वीतरागभाव प्रगट होता है। एक-दूसरे के कारण एक-दूसरे में कुछ होता है—ऐसी पराश्रयबुद्धि में वीतरागभाव नहीं होता, परंतु राग-द्वेष होता है कि इसने मेरा अहित किया और इसने मेरा हित किया; कर्म ने ज्ञान को रोका और वाणी ने ज्ञान दिया—ऐसी बुद्धि

* मूल आत्मधर्म में — शरीर तो अमूर्त-ज्ञान, दर्शन, आनंदादि भावोंरूप परिणमित हो रहा है — ऐसा छपा है, जिसे सुधार कर प्रकाशित किया है।

जिसको हो, उसे कर्म के प्रति द्वेष और वाणी के प्रति राग दूर नहीं होता, इसलिये परालंबन छूटता नहीं है और स्वावलंबन होता नहीं है। स्वावलंबन के बिना शांति या वीतरागभाव प्रगट नहीं होता। जिसे स्व-पर के भिन्न स्वरूप का निर्णय है, उसे पर के प्रति इष्ट-अनिष्टबुद्धि के राग-द्वेष तो नहीं होते। अपने ज्ञान-आनंद के लिये मुझे अपने स्वरूप का ही अवलंबन है-ऐसी स्वाश्रयबुद्धि से वीतरागभाव प्रगट होता है।

संतों ने सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि की है।

जीव और पुद्गल का स्वरूप तो भिन्न ही है, इसलिये वे तो एक-दूसरे को कुछ नहीं करते, यह ठीक है, परंतु एक जीव तो दूसरे जीव को सुख-दुःख या ज्ञान देता है न?—तो कहते हैं कि नहीं; सर्व जीव ज्ञानस्वरूप हैं परंतु प्रत्येक जीव का ज्ञान भिन्न है, इस जीव का ज्ञान इसके पास और सामनेवाले जीव का ज्ञान उसके पास; प्रत्येक का स्वरूप अपने-अपने में है। एक जीव का स्वरूप दूसरे जीव में प्रविष्ट नहीं हो जाता कि उसे कुछ दे या ले। प्रत्येक जीव सामान्य-विशेष स्वरूप है, उसका सामान्य-विशेष अपने से ही है, दूसरा कोई उसके सामान्य को या विशेष को कुछ करता नहीं है। दो भिन्न तत्त्वों को वास्तव में कारण-कार्यपना नहीं है। भिन्न तत्त्वों में परस्पर कारण-कार्यपना या कर्ताकर्मपना मानना, वह विपरीत मान्यता तत्त्व की सारी भूलों का मूल है। जहाँ ऐसी विपरीत मान्यता हो, वहाँ एक भी तत्त्व का सच्चा निर्णय नहीं होता। इसलिये जीव-अजीवतत्त्व के स्वरूप का वास्तविक भेद जानना, वह सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि का कारण है। सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि के लिये संतों ने जीव-अजीव का भिन्न स्वरूप जैसा है, वैसा बतलाया है, उसे जानने से भेदज्ञान होता है और सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि होती है। अहो, संतों ने यथार्थ स्वरूप बतलाकर सम्यक्मार्ग को प्रकाशित किया है... जगत को सम्यक्मार्ग बतलाकर उपकार किया है।

ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि भेदज्ञान द्वारा होती है।

ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि जीव-अजीव के भेदज्ञान द्वारा ही होती है। जीव और अजीव का (शरीरी और शरीर का) संयोग होने पर भी, हे भाई! तू संयोगदृष्टि से न देख, परंतु उनके स्वरूप को देख तो तुझे दोनों की भिन्नता स्पष्ट दिखायी देगी। जो जीव वस्तु के स्वरूप को नहीं जानता और अकेले संयोग को ही देखता है, उसे ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि नहीं होती। देखो, सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि की रीति! इसप्रकार जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप की

पहिचानपूर्वक सम्यक्मार्ग की प्रसिद्धि करे, उसी को नवतत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होता है; इसलिये पहले भिन्न स्वरूप बतलाकर मार्ग की प्रसिद्धि करके पश्चात् सात पदार्थों का वर्णन करेंगे।

वर्तमान में भी जीव और शरीर की स्पष्ट भिन्नता

जितने वर्णादि सहित रूपी पदार्थ हैं, उतने सभी अजीव ही हैं; शरीर मूर्त है, वह सदैव अजीव ही है—जीव के संयोग में हो, तब भी शरीर तो अचेतन-अजीव ही है। उसमें कहीं ऐसे प्रकार नहीं हैं कि अमुक शरीर 'अजीव' और अमुक शरीर 'सजीव'। शरीर तो अजीव ही है और चेतनमय तो जीव ही है; मात्र संयोग के कारण शरीर को 'सजीव शरीर' कहना, वह तो कथनमात्र है। यहाँ कहते हैं कि जीव-पुद्गल के उस संयोग में भी उनके स्वरूप में भेद होने से वे भिन्न ही हैं। सिद्ध में जीव-शरीर पृथक् और वर्तमान में जीव-शरीर एकमेक-ऐसा नहीं है; वर्तमान में भी पृथक् हैं। भाई, उपयोगमय आत्मा की अचेतन शरीर के साथ एकता कहाँ से होगी? और चेतनमय अरूपी आत्मा, वह अचेतन-रूपी वाणी को किसप्रकार करेगा? सबका कार्यक्षेत्र अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में होगा या बाहर होगा? वस्तु का कार्यक्षेत्र अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में ही होता है, बाहर नहीं होता। भाई, तू चेतन, तेरे गुण चेतन, तेरी पर्यायें चेतन, तेरा कार्य चेतन—उससे बाहर निकलकर शरीर-मन-वाणी आदि अजीव में तेरा कार्य या तेरा अस्तित्व नहीं है। इसप्रकार स्पष्ट भेदज्ञान करके जो निज द्रव्य में लीन होता है, उसी को मोक्षमार्ग होता है, उसी को मोक्षमार्ग की प्रसिद्धि होती है।

दो के लक्षण दो, दो का जाननेवाला एक

जीव और शरीर—इन दो वस्तुओं के लक्षण दो हैं। जीव का लक्षण चेतना, शरीर का लक्षण मूर्तपना। लक्षण दो होने पर भी दोनों का ज्ञाता तो एक ही है। ज्ञाता कहीं दो (-जीव और अजीव) नहीं हैं। एक जीव ही दोनों के लक्षणों को जाननेवाला है। दोनों के भिन्न लक्षणों को जानकर, दोनों का भेदज्ञान करके, एक निजात्मा में लीनता करना—वह तात्पर्य है।

भिन्नता बिना लीनता नहीं होती

भिन्नता के बिना लीनता नहीं होती, अर्थात् जिसे पर से भिन्नता की प्रतीति नहीं है, उसे स्व में लीनता नहीं होती। स्व-पर की भिन्नता का जिसे भान नहीं है, वह तो शरीर की चेष्टाओं को अपनी मानकर उनमें लीनतारूप से वर्त रहा है और संसार भ्रमण कर रहा है। उससे छुड़ाने के लिये संतों ने कृपा करके भेदज्ञान द्वारा सम्यक्मार्ग प्रकाशित किया है। अनादि से अज्ञान के

कारण जीव को खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है? वह अपने को शरीरादिरूप मानता है, शरीर की क्रियाओं को अपनी मानता है। उसे जीव क्या और अजीव क्या, उसका वास्तविक स्वरूप दर्शाकर मुक्ति का मार्ग प्राप्त कराने के हेतु जड़-चेतन के भिन्न लक्षण बतलाये हैं। भगवान के कहे हुए इन भिन्न लक्षणों को जानकर एक स्वद्रव्य का ही अवलंबन करता हुआ जीव भेदविज्ञानी होता है और निजात्म द्रव्य में लीन होकर वीतरागभाव द्वारा मोक्षमार्ग साधकर परमसुख का भोक्ता होता है। भेदज्ञानरूपी सम्यक्मार्ग का यह फल है।

ज्ञानस्वभाव

भाई, तू जीव है, तेरा स्वभाव ज्ञान है; ज्ञान की पूर्णता अर्थात् सर्वज्ञता; उसमें राग या शरीर कहाँ आये? ऐसे सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय तो कर, इस निर्णय में वीतरागता प्रगट करने की शक्ति है। जहाँ निर्णय हुआ कि 'मैं सर्वज्ञस्वभावी ज्ञायक हूँ', वहाँ राग में से भी कर्तृत्व हट जाता है, तो फिर शरीरादि अचेतन में एकत्वबुद्धि कहाँ से रहेगी? और जिससे भिन्नता को जाना, उसमें लीनता भी कैसे होगी?—नहीं ही होगी; इसलिये ज्ञानस्वभाव का निर्णय करने से एक स्वद्रव्य में ही लीन होना रहा... यही मुमुक्षु का मार्ग है और संतों ने यह मार्ग प्रकाशित किया है।

सात पदार्थ

प्रथम तो, जिसे स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, सम्यक्मार्ग जिसके प्रगट नहीं हुआ है, ऐसा संसारी जीव अनादि से बंधन की उपाधि के वश हुआ है और उसके निमित्त से वह जीव स्निग्ध परिणाम अर्थात् राग-द्वेष-मोहरूप मलिन भाव करता है। जीव स्वयं ऐसे भावोंरूप कर्म-निमित्त के कारण परिणमित होता है और उन विकारी भावों के निमित्त से पुनः-पुनः कर्म बँधते हैं। संसार भ्रमण में जीव-अजीव का निमित्त-नैमित्तिकपना बतलाना है। और संसार अनादिनिधन तथा अनादिसांत होता है, उसमें 'अनादिसांत' कहने से संवर-निर्जरातत्त्व गर्भितरूप से आ गये, क्योंकि संवर-निर्जरा द्वारा ही संसार का अंत होता है। इसप्रकार जीव और अजीवद्रव्यों का भिन्न-भिन्न स्वरूप होने पर भी उनके परिणाम के परस्पर निमित्त से पुण्य-पापादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन सात तत्त्वों का स्वरूप जानना, वह मोक्षमार्ग की सिद्धि के लिये आवश्यक है। कौन से तत्त्व हेय, कौन से उपादेय, कौन से तत्त्व मोक्ष का कारण; कौन से तत्त्व संसार का कारण—यह बराबर जानना चाहिये।

भाव पुण्य-पाप जीव का कार्य है, परंतु वह उपादेय नहीं है।

शुभ परिणामरूप भाव, सो पुण्य और अशुभ परिणामरूप भाव, सो पाप; उस पुण्य-पाप की रचना जीव स्वयं करता है; निश्चय से जीव स्वयं ही कर्ता होकर उस पुण्य-पाप को रचता है, इसलिये वह जीव का कार्य है, और उसके निमित्त से बँधनेवाले जो शुभाशुभ कर्म, उस पुण्य-पाप के कर्ता अचेतन परमाणु ही हैं। पुण्य-पाप के भाव जीव की ही पर्याय में होते हैं; इसलिये जीव स्वयं उनका कर्ता है; परंतु वह कोई स्वभावभूत कार्य नहीं है इसलिये वह उपादेयरूप कार्य नहीं है किंतु हेयरूप है। पुद्गल में बँधनेवाले पुण्य-पापरूप कर्म में जीव के शुभ-अशुभ परिणाम निमित्त हैं। घाति कर्मों की समस्त प्रकृतियाँ पापरूप अशुभ ही हैं, और अघाति कर्मों में कुछ प्रकृतियाँ शुभ-पुण्यरूप हैं, और कितनी अशुभ-पापरूप हैं। जीव का भाव निमित्त और कर्म बँधा, वह नैमित्तिक—तथापि उनमें कहीं काल भेद नहीं है; पहले निमित्त और फिर नैमित्तिक, ऐसा नहीं है तथा कोई किसी का कर्ता भी नहीं है। जीव और पुद्गल तो त्रैकालिक पदार्थ हैं और शेष सात पदार्थ (पुण्य-पाप आदि) पर्यायरूप हैं; उनकी उत्पत्ति में जीव और पुद्गल को निमित्त-नैमित्तिकपना है। जीव के जिस शुभभाव से पुण्यकर्म का बंध हुआ, उस भाव को भी पुण्य कहा है। उसीप्रकार जिस अशुभभाव से पाप कर्म का बंध हुआ, उस भाव को पाप कहा है। वहाँ जीव के परिणामरूप भाव पुण्य-पाप का कर्तृत्व जीव को ही है और पुद्गल के परिणामरूप द्रव्य पुण्य-पाप का कर्तृत्व पुद्गल में ही है। दोनों के परिणाम एक साथ हैं—आगे-पीछे नहीं हैं। भाव पुण्य-पाप, वह जीव का कार्य होने पर भी स्वभावभूत नहीं है। इसलिये उपादेयरूप नहीं है।

वीतरागभाव ही कर्तव्य है, यही शास्त्र तात्पर्य है।

भगवान आत्मा अरूपी है, उसके सुख-दुःख परिणाम भी अरूपी हैं, और पुद्गल कर्म रूपी है, उसके निमित्त से बाह्य में इष्ट-अनिष्ट संयोग प्राप्त होते हैं। वस्तु कहीं इष्ट-अनिष्ट कल्पना नहीं कराती, परंतु जीव स्वयं स्वभाव से हटकर राग-द्वेषवश बाह्य में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना करता है। संत कहते हैं—भाई, बाह्य पदार्थों से तू सुखी-दुःखी नहीं है; तू अपने राग-द्वेषादि विकारी परिणामों की चीकट (मलिनता) से दुःखी है। रागादि मलिन भावों का निमित्त पाकर जीव को एकक्षेत्र में पुद्गल कर्म का बंध होता है। जीव का वीतरागभाव संवर, निर्जरा, मोक्ष का हेतु है और जीव का सरागभाव कर्मों के आस्रव-बंध का हेतु है। इसलिये

मोक्षेच्छु को वीतरागभाव ही कर्तव्य है। ऐसा वीतरागभाव ही शास्त्र का तात्पर्य है।

पुण्यास्त्रव का हेतु-प्रशस्त राग

प्रशस्त राग पुण्य बंध का कारण है; उस प्रशस्त राग में क्या होता है ? कि अरिहंत-सिद्ध-साधु के प्रति तथा धर्मात्मा या जिनवाणी के प्रति भक्ति होती है। देखो, इसमें दो बातें आयीं; एक तो प्रशस्त राग में अरिहंतदेव आदि की भक्ति होती है, और दूसरे अरिहंतदेव आदि की भक्ति का जो प्रशस्त भाव है, वह पुण्यास्त्रव का हेतु है, वह कहीं मोक्ष का हेतु नहीं है। मोक्ष का सच्चा हेतु तो रागरहित शुद्ध भाव ही है।

भगवान अरिहंत देवों ने ऐसे वीतरागी धर्म-शुक्लध्यान द्वारा ही समस्त घातिकर्मों का नाश किया है। ऐसे सच्चे देव की भक्ति को ही पुण्यास्त्रव के कारण में गिना है। कुदेवादि के सेवन में तो विषय-कषाय का पोषण है, इसलिये उसे तो पुण्यास्त्रव के कारण में नहीं गिना है।

[नोंध—भक्ति, स्नेह, कृपा, स्पृहा इत्यादि राग के ही भेद हैं, किसी के प्रति भक्ति का होना राग पर्याय है। देखो—त०राजवार्तिक भाषा, अध्याय १०-सूत्र ४, पृष्ठ १२०३]

पंच परमेष्ठी का यथार्थ स्वरूप जानने से अपने ज्ञानादि में जो निर्मलता होती है, वह निर्मलता कहीं पुण्यास्त्रव का कारण नहीं है; परंतु पंच परमेष्ठी के प्रति भक्ति-बहुमान-विनय आदि का शुभभाव है, वह प्रशस्तराग है और वही पुण्यास्त्रव का कारण है। मोक्ष का कारण स्वालंबी भाव है, बंध का कारण परालंबी भाव है।

शुभ और अशुभ दोनों भाव परालंबी हैं, परंतु उनमें शुभभाव प्रशस्त है, वह पुण्यास्त्रव का कारण है; उस प्रशस्तराग का विषय 'प्रशस्त' ऐसे पंच परमेष्ठी आदि हैं। उसमें राग की मंदता है। पंच परमेष्ठी प्रशस्त हैं, सुंदर हैं; उनका अनुसरण करने में रसिकता हो, उत्साह हो, उमंग हो, आज्ञांकितपना हो—वह सब राग प्रशस्त है। संसार संबंधी राग, स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी-शरीरादि संबंधी राग, वह अप्रशस्त है। प्रशस्त राग भक्ति प्रधान अज्ञानी को होता है, तथा ऊपर की भूमिका में स्थिति न हो, तब ज्ञानी को भी होता है। स्वरूप में स्थिरता न रहे, तब भी ज्ञानी की परिणति तीव्र कषायें में नहीं जाती, कुदेवादि अस्थान का राग भी उनको नहीं होता, उन्हें पंच परमेष्ठी के प्रति भक्ति आदि का प्रशस्त राग होता है। ज्ञानी का वह प्रशस्त राग भी पुण्यास्त्रव का ही कारण है और उसी समय उनको जो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूप अरागी भाव वर्तता है, वह संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण है।

ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि

इसप्रकार तत्त्वों को बराबर जानने से ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि होती है। ज्ञानी का मार्ग तो जगत में प्रसिद्ध ही है, परंतु वह जीव स्वयं जब उस मार्ग को समझकर, तत्त्वस्वरूप को जानकर अपने में भेदज्ञान प्रगट करे, तब उसे ज्ञानी का मार्ग प्रसिद्ध हुआ कहा जाता है। अपने ही पास एक रत्न खुला पड़ा हो, परंतु जिसकी आँखें बन्द हैं—जो अंध है और उस रत्न को नहीं देख पाता, उसके लिये तो वह अप्रसिद्ध ही है; आँख खोलकर देखे, तब वह प्रसिद्ध हुआ कहलाये। उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए नवतत्त्व तो प्रगट-प्रसिद्ध हैं, परंतु जो जीव स्वयं उनका यथार्थ ज्ञान न करे, ज्ञान चक्षु खोलकर यथार्थ तत्त्वों को न देखे, उसे तो वे अप्रसिद्ध हैं; जब स्वयं ज्ञानचक्षु खोलकर यथार्थ तत्त्वों को जाने, तब उसे भगवान के मार्ग की प्रसिद्धि हुई कही जाती है। अजीव से भिन्न चैतन्य तत्त्व अपने अंतर में ही है और सात तत्त्वों का परिणमन भी जीव की अपनी पर्याय में ही होता है, उनका स्वरूप पहिचाने तो आस्रव-बन्ध दूर होकर संवर-निर्जरा प्रगट हो और मोक्ष की प्रसिद्धि हो। इसलिये तत्त्वों का स्वरूप बराबर जानना चाहिये।

पापी पाप न कीजिये तो पुण्य किया सौ बार;
न किसी का लीजिये तो दान दिया सौ बार;
न किसी की निंदा कीजिये तो भगवत्-भक्ति करी सौ बार।
नम्रता सहित अपनी समालोचना कीजिये तो प्रायश्चित्त किया सौ बार।

(भक्त कवि)

दर्शन-पाठ

[हिन्दी पद्यानुवाद] ['इन्दु' एत्मादपुर]

दर्शन श्री देवाधिदेव का दर्शन पाप विनाशन है,
दर्शन है सोपान स्वर्ग का और मोक्ष का साधन है।
श्री जिनेन्द्र के दर्शन औ, निर्ग्रंथ साधु के वंदन से,
अधिक देर अघ नहीं रहै जल छिद्रसहित कर में जैसे।
वीतराग-मुख के दर्शन की, पद्मराग सम-शांत-प्रभा,
जन्म-जन्म के पातक क्षण में, दर्शन से हो शांत विदा।
दर्शन श्री जिनदेव सूर्य, संसार-तिमिर का करता नाश,
बोध-प्रदाता चित्त पद्म को, सकल अर्थ का करे प्रकाश।
दर्शन श्री जिनेन्द्र चंद्र का, सद्धर्मामृत बरसाता,
जन्म दाह को करै शांत, औ... सुख वारिधि विकसाता।
सकल-तत्त्व के प्रतिपादक, सम्यक्त्वादि गुण के सागर,
शांत दिगम्बर रूप नमूँ, देवाधिदेव तुमको जिनवर।
चिदानंद-मय एकरूप, वंदन जिनेन्द्र परमात्मा को,
हो प्रकाश, परमात्मा नित्य, मम नमस्कार सिद्धात्मा को।
अन्य शरण कोई न जगत में, तुम्हीं शरण मुझको स्वामी,
करुण भाव से रक्षा करिये, हे जिनेश, अंतर्यामी।
रक्षक नहीं, शरण कोई नहिं, तीन जगत में दुखत्राता,
वीतराग प्रभुसा न देव है, हुआ, न होगा सुखदाता।
दिन दिन पाऊँ, जिनवर भक्ति, जिनवर भक्ति, जिनवर भक्ति,
सदा मिले वह सदा मिले, जब तक न मिले मुझको मुक्ति।
नहीं चाहता, जैनधर्म के बिना चक्रवर्ती होना,
नहीं अखरता, जैनधर्म के सहित दरिद्री भी होना।
जन्म-जन्म के किये पाप, और बंधन कोटि-कोटि भव के,
जन्म-मृत्यु औ जहाँ रोग, सब कट जाते जिन दर्शन से।
आज युगल-दृग हुए सफल, प्रभुवर तव-चरण-कमल,
हे त्रिलोक के तिलक, आज लगता भवसागर चुल्लूभर।

भगवान ऋषभदेव का वैराग्य

(महापुराण के आधार से)

एक दिन सैंकड़ों राजाओं से घिरे हुए भगवान ऋषभदेव सभामंडप में विराजमान थे। नीलांजना देवी नृत्य कर रही थी कि इतने में ही आयुरूपी दीपक के क्षय होने से वह क्षणभर में अदृश्य हो गई। जिसप्रकार बिजलीरूपी लता देखते-देखते क्षण भर में नष्ट हो जाती है, उसीप्रकार प्रभा से चंचल और बिजली के समान उज्ज्वल मूर्ति को धारण करनेवाली वह देवी नष्ट होते ही इंद्र ने दूसरी देवी खड़ी करदी... तथापि भगवान ने उसी समय उनके स्वरूप का अंतर जान लिया था। तदनंतर भोगों से विशेष विरक्त और अत्यंत संवेग और वैराग्य भावना को प्राप्त हुए भगवान के चित्त में इसप्रकार चिंता उत्पन्न हुई कि—बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जगत विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीरूपी लता के समान चंचल है, यौवन, शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य आदि सभी चलाचल हैं। रूप, यौचन और सौभाग्य के मद से उत्पन्न हुआ अज्ञ पुरुष इन सब में स्थिर बुद्धि करता है परंतु उनमें कौन सी वस्तु विनश्वर नहीं है ? अर्थात् सभी वस्तुयें विनश्वर हैं। [और अपना ध्रुव चैतन्य, ज्ञायकतत्त्व जो पवित्र अनंत महिमा युक्त अपार ज्ञानसुख सहित है, वही अविनाशी है, आश्रय करने योग्य है।]

यह रूप की शोभा संध्याकाल की लाली के समान क्षणभर में नष्ट हो जाती है और उज्ज्वल तारुण्य अवस्था पल्लव की कांति के समान शीघ्र ही म्लान हो जाती है। लताओं के पुष्पों के समान यह यौवन शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है, भोग-सम्पदाएँ विषबेल के समान हैं और जीवन विनश्वर है, यह आयु स्थिति घटीयंत्र के जलधारे के समान शीघ्रता के साथ गलती जा रही है—कम होती जा रही है और यह शरीर अत्यंत दुर्गन्धित तथा घृणा उत्पन्न करनेवाला है।

[आत्मा उनसे विलक्षण पवित्र अक्षय ज्ञानानंद का निधि है।] (क्रमशः)

संत कहते हैं—

भाई ! यदि तुझे यह भवदुःख प्यारा न हो और मोक्षसुख का अनुभव करना चाहता हो, तो अपने ध्येय की दिशा पलट दे; जगत से उदास होकर अपने को आत्मा के रंग में रंग कर अंतर में चैतन्यस्वभाव का ध्यान लगा। इस ध्यान में तुझे परम आनंदमय मोक्षसुख का अनुभव होगा।

विविध वचनामृत

[२]

यह विभाग आत्मधर्म के गतांक नं० १ से प्रारम्भ हुआ है; यह दूसरा लेख है। वचनामृत नं० १ से ८४ तक पहले लेख में दिये जा चुके हैं; आगे यहाँ दे रहे हैं।

(८५) धर्म की महिमा

आत्मस्वरूप को साधने एवं दर्शानेवाले आत्मज्ञ संतों का माहात्म्य आये बिना आत्मस्वरूप को प्राप्त किया जा सके—ऐसा कभी हो नहीं सकता।

(८६) धर्मात्मा की प्रसन्नता

अहो, जिस भव्य महात्मा के संबंध में श्री ज्ञानियों के मुख से ऐसे मंगल वचन निकले कि—'तेरा हित हो गया है, तू अवश्य मुक्ति प्राप्त करेगा', 'इस जीव को अल्पकाल में केवलज्ञान का प्रकाश फूटेगा'—तो ऐसे उस मोक्षगामी जीव की महिमा की क्या बात? अहो, मोक्ष का आशीर्वाद मिला, उससे अच्छा दूसरा कौन सा महा-महोत्सव होगा? ज्ञानियों ने उसकी पात्रता देखकर उसे मोक्ष के लिये युवराज पदवी प्रदान कर दी है। ऐसे उस महा भाग्यवंत मोक्षनंदन को धन्य है.. धन्य है! एक तीर्थंकर पूर्वभव में जब राजा थे और श्री ज्ञानी के मुख से सुना कि स्वयं को भविष्य में तीर्थंकर होना है। बस, फिर तो उन महात्मा के उल्लास का पूछना ही क्या? उसी समय अपने राज्य में अपने भावि पंच कल्याणक का महान महोत्सव कराया और भविष्य की मुक्ति का आनंद वर्तमान में ही मना लिया। उसीप्रकार ज्ञानी के निकट अपना मोक्ष होने की बात सुनते ही मुमुक्षु जीव के हृदय में महान उल्लास जागृत होता है और वह नाच उठता है; अपनी भावि मुक्ति का आनंद वर्तमान में मनाता है... धन्य है, उसका सत् उल्लास! भरत चक्रवर्ती ने जब मुनियों को आहारदान कराया और पश्चात् जब दो मुनिवरों ने भरत को आशीर्वाद दिया कि—'अक्षयं दानफलम् अस्तु ते' तथा 'निर्मलात्मसिद्धिरस्तु ते' अर्थात् तुझे अक्षय दानफल की (मोक्ष की) प्राप्ति होओ, तथा तुझे निर्मल आत्मसिद्धि की प्राप्ति होओ! तब उन दोनों महा समर्थ मुनियों के मोक्ष संबंधी आशीर्वाद सुनते ही भरत चक्रवर्ती

नृत्य करने लगे, उनका आत्मा उल्लास से नाच उठा। क्यों न नाच उठता ? ....मोक्ष का अवसर आ गया था !

(८७) जन्म रहित होने के लिये जो जन्म हुआ, वह जन्म सफल है।

जिस जीवन का प्रत्येक क्षण आत्मार्थ के हेतु ही व्यतीत होता हो, जिसका प्रत्येक क्षण संसार को छेदने के लिये छैनी का कार्य कर रहा हो, जिसका प्रत्येक क्षण आत्मा को सिद्धदशा की ओर ले जा रहा हो, वह जीवन धन्य है, कृतकृत्य है। ऐसा कृतकृत्य जीवन संत की शरण बिना नहीं बनता। जिन परम संतों के समागम से ऐसा जीवन-निर्माण होता है, उन संतों का परम आत्मा जयवंत हो, उसे परम भक्ति से नमस्कार हो।

(८८) मैं ज्ञान हूँ

मेरे ज्ञान में सारे जगत के सर्व पदार्थ ज्ञात होते हैं, इसलिये मैं अपने ज्ञान से ही तृप्त हूँ। ज्ञान से बाह्य किसी अन्य पदार्थ की मुझे अभिलाषा नहीं है; क्योंकि सभी कुछ मेरे ज्ञान में आ जाता है। ऐसे तृप्त ज्ञान में ही मैं हूँ। मैं ज्ञान ही हूँ; मेरे ज्ञान में ही मेरा सर्वस्व है।

(८९) दिव्यज्ञान की महिमा

अहो, सर्वज्ञ भगवान! अरिहंत-सिद्धो! आपके परम महिमावंत दिव्यज्ञान में एक समय मात्र भी आप मुझे भूलते नहीं हैं, तो मैं अपने दिव्यज्ञान में आपके दिव्यज्ञान को कभी भी कैसे भूलूँ ? और सदा अपने ज्ञान में मुझे आपके दिव्याान की महिमा जागृत रहती है, फिर मेरा ज्ञान अन्य विषयों में कैसे भटक सकेगा ? इसलिये सचमुच आपके परम दिव्य ज्ञान में मैं अकेला ही नहीं ज्ञात होता, परंतु साथ-साथ मेरी मुक्तदशा भी ज्ञात होती है।

(९०) अमूल्य जीवन

अहो, जगत के जीवो ! अमूल्य मानव जीवन प्राप्त करके आत्मस्वरूप की दिव्य महिमा का एक क्षण भी चिंतवन करो... चैतन्यस्वरूप की महत्ता को समझो... उसकी प्रतीति करो... उसका ध्यान करो... सत्पुरुष के पास से ही तुम्हें उसकी प्राप्ति होगी—ऐसा हमारा वचन है।

(९१) अंतर्मंथन

अरे जीव! अपने परम सहज चैतन्यस्वरूप का अंतर्मंथन कर... उसकी महिमा में एकाग्रतारूप ध्यान का अभ्यास कर... हे जीवो ! बाह्य में न भटको... अंतर्मंथन करो, अंतर्मंथन करो... तुम्हारा सर्वस्व तुम्हारे अंतर में ही है।

(९२) ज्ञानी माहात्म्य का सहज परिणमन

अहो, ज्ञानी महात्मा का सहज परिणमन! अज्ञानी को ऐसा लगता है कि यह ज्ञानी राग कर रहे हैं, परंतु वास्तव में ऐसा बिल्कुल नहीं है; ज्ञानी रागमय नहीं हैं, परंतु राग से भिन्न ज्ञायकभावमय हैं। ज्ञायकस्वरूप ही उनका सहज परिणमन है। ध्यानदशा—निर्विकल्प ध्यानदशा के समय अथवा आहारादि के समय ज्ञानी का परिणमन एक ज्ञायकरूप ही है। अहो, स्वभाव तेरी दिव्यता! ज्ञानी की ऐसी पहिचान कोई विरले ही करते हैं।

(९३) मेरा स्वरूप

कभी राग-द्वेषरूप न होनेवाला उदासीन ज्ञान जयवंत वर्ते! मेरा चैतन्यस्वरूप निजरूप से ही सहजतया अष्टांग सम्यग्दर्शनरूप है। 'मैं'—ऐसे भाव द्वारा जो अनुभव में आता है और जो स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष है—ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा 'मैं' ही हूँ।

(९४) ज्ञानचेतना की भावना

समस्त कर्म और कर्म के फलों का उपभोग छोड़कर, केवल चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व का उग्ररूप से अनुभव करने की क्रिया में अब मैं अचलितरूप से लीन होता हूँ। चैतन्यस्वरूप के अनुभव में मेरी यह अचलता अनंत काल तक बनी रहे... अब मेरा समस्त काल प्रवाह इस चैतन्यस्वरूप के अनुभव में ही बहे!—इसप्रकार धर्मी जीव निरंतर ज्ञान-चेतना को भाता है।

(९५) वह पवित्र आत्मा जयवंत वर्ते!

अहो, उसकी मुद्रा! अहो, उसकी गंभीरता! अहो, उसका पावन ज्ञान! अहो, उसकी शांति! अहो, उसकी चिन्मुद्रा के स्वरूप की झलक! अहो, उसकी विनय! अहो, उसका वैराग्य! अहो, उसकी निरभिमानता! अहो, उसकी भक्ति! अहो, उसकी वत्सलता! अहो, उसका आत्मध्यान! अहो, वह आत्मद्रव्य! उस सर्व गुण संपन्न आत्मा को नमस्कार!

(९६) विषय बढ़ाने के हेतु शरीर धारण नहीं किया है

रे पामर! अनंत काल में प्राप्त हुए इस चिंतामणि समान मानव जीवन को यदि तू विषय-भोगों के हेतु ही व्यतीत करता है और आत्मा की दरकार नहीं करता तो तेरे ऐस जीवन को धिक्कार है! वही जीवन धन्य है कि जो जीवन आत्मसाधना में व्यतीत होता है।

यह दुर्लभ मनुष्यत्व और जिनशासन जैसे परम रत्न को पाकर भी जो जीव अपना जीवन विषयों में ही लगाता है, वह राख के लिये रत्न को जलाता है!

एक निर्धन मनुष्य को कहीं से अचानक महा मूल्यवान रत्न हाथ लग गया। उस मनुष्य को बड़ी भूख लगी थी, किंतु अज्ञान के कारण वह नगर में रत्न बेचकर खाद्य-सामग्री लेने नहीं गया और देर तक सोता रहा। फिर सोकर उठा, तब विचार किया कि पहले मुँह साफ करके, नहा-धोकर नगर में जाऊँ और भोजन का प्रयत्न करूँ। मुँह साफ करने के लिये कोई साधन न होने से उसने रत्न को जलाया और उसकी राख से दाँत साफ किये, फिर नहा-धोकर नगर में भोजन के लिये गया। लेकिन बिना पैसों के भोजन मिलता कहाँ से ? ...जो अमूल्य रत्न मिला था, उसे तो राख के लिये जला दिया... और कुछ उसके पास था नहीं; इसलिये वह भूख के मारे तड़प-तड़पकर मर गया। देखो, उसे रत्न तो मिला, परंतु उसका सदुपयोग करना न आया... राख के लिये रत्न को जला दिया।

हे भव्य जिज्ञासु ! तू उस मनुष्य जैसी मूर्खता मत करना। अनंत-अनंत काल में यह अमूल्य मानव जीवन और उसमें भी चिन्तामणि रत्न समान जिनेन्द्र शासन तथा संतों का समागम प्राप्त हुआ है... ऐसे इस परम दुर्लभ जीवन को राख समान विषय-भोगों के हेतु जला नहीं देना। मूर्ख की भाँति सोने में तथा नहाने-धोने में और व्यापार-धन्धे में जीवन को व्यर्थ नहीं गँवा देना, परंतु एक क्षण का भी विलंब किये बिना तू अपना आत्मसाधन करना। इस जीवन में जिनेन्द्रदेव के शासन को एक क्षणमात्र नहीं भूलना। इस मनुष्य भवरूपी चिंतामणि रत्न को बेचकर आत्मा का धर्म लेना और उससे अपने आत्मा को जिलाना। यदि इस जीवन में आत्मा के धर्म को नहीं समझा, तो उस मूर्ख जैसा तेरा हाल होगा... वह तो रत्न को जलाकर एक ही बार भूख से मरा, परंतु तू तो जिनशासन को गँवाकर अनंत-अनंत बार मरता फिरेगा। ....इसलिये हे भाई ! जिनधर्म को प्राप्त करके जीवन सार्थक करना !

(९७) कुन्दकुन्द भगवान!

हे कुन्दकुन्द भगवान ! आप तो आत्मा हैं; आपके माता-पिता, कुल, ग्राम, जन्म-मरण नहीं हैं, आप तो ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों के भंडार हैं; गुणों द्वारा ही आप महान हैं... अपना ज्ञानमय अन्तर्जीवन चरित्र ही आपने समयसार में उतारा है... उस अंतर्जीवन को समझने की शक्ति हममें प्रगट हो !

(९८) कहाँ और क्यों ?

१-प्रश्न— धर्म कहाँ होता है ?

उत्तर—धर्म पर्याय में होता है, द्रव्य-गुण में नहीं होता और पर में भी नहीं होता।

२-प्रश्न—अधर्म कहाँ होता है ?

उत्तर—अधर्म पर्याय में होता है, द्रव्य-गुण में नहीं होता, और पर में भी नहीं होता।

३-प्रश्न—धर्म कैसे होता है ?

उत्तर—आत्मा के शुद्धस्वभाव के आश्रय के धर्म होता है।

४-प्रश्न—अधर्म कैसे होता है ?

उत्तर—आत्मा के शुद्धस्वभाव की दृष्टि छोड़कर, पर्यायबुद्धि से अधर्म होता है।

(९९) भेदविज्ञान

जो भी सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से हुए हैं; जो भी बँधे हैं, वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बँधे हैं।

इसप्रकार भेदज्ञान मोक्ष का मूल है; इसलिये—

भावयेत भेदविज्ञानम् इदं अच्छिन्नधारया;
तावत् यावत् परात् च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठतं।

(१००) सर्व सुख का मूल सम्यग्दर्शन है।

सर्व दु:ख का मूल मिथ्यादर्शन है। (क्रमश:)

हे भाई, यदि तुझे मोक्ष का उत्साह हो, मोक्ष को साधने की लगन हो तो समस्त बंध भावों की रुचि को तू छोड़.... क्योंकि मोक्ष के मार्ग में समस्त बंधभावों का निषेध किया गया है।

महान सौजन्यता पूर्ण मंत्र

[धर्म का मूल सर्वज्ञ वीतराग है, उसे अपने लक्ष्य में रखकर स्वसन्मुख ज्ञाता साक्षी ही रहो जो साररूप बात है। अत: स्वसन्मुख ज्ञातापन की धीरज रखना सच्चा पुरुषार्थ है, सुखी होने का उपाय है।]

पारिवारिक-सामाजिक, राजकीय कलह आज के समाज की विकट समस्या है। जीवन के आनंद रस में वह एक उग्र जहर है कि समूचा आनंद खत्म हो जाता है, वह जहर है ईर्षा, अदेखापन, पराई निंदा-असंतुष्टता।

एक बड़े राज्य का मंत्री था। उसके परिवार में बहुत बड़ी संख्या थी, प्रेम-वात्सल्य और सौहार्द के लिये वह मंत्री सारे देश में विख्यात था। उसके लिये लोग आश्चर्य और महिमा की बातें करते थे। क्या उनके पास कोई देवता सहायक है या मंत्र बना है ?

एक बार सम्राट इसका रहस्य जानने के लिये खुद बूढ़े राजमंत्री के घर पर गये। स्वागत के बाद सम्राट ने पूछा—मैं वह महामंत्र जानने के लिये आया हूँ, जिसने एक हजार से भी अधिक व्यक्तियोंवाले परिवार को अटूट स्नेह संबंध में बाँध रखा है।

बूढ़े मंत्रीजी ने एक कागज लिया, कलम उठाई, कांपते हाथों से एक सौ शब्द लिखे और फिर सम्राट के सामने रख दिया।

सम्राट ने पढ़ा तो उसमें सौ बार एक ही शब्द लिखा था—

सहनशीलता! सहनशीलता!!....

सम्राट चकित होकर देखता रहा। मंत्री ने कहा—'महाराज! यही वह महामंत्र है, जिसने मेरे परिवार को एक धागे में बाँध रखा है।'

आज का समाज, बाप-बेटे, सास-बहू, पति-पत्नी, सेठ-कर्मचारी, प्रजातंत्र के नेता और प्रजाजन इस महामंत्र को समझ लें; रात-दिन अपने आप को यह शिक्षा देता रहे तो अनेक समस्याएँ सहज ही सुलझ जाएँ। *(अमर भारती में से उद्धृत)*

संयोगी दृष्टि की अशांति दूर करने के लिये स्थायी समता
(शांति) और वस्तु स्वभावदर्शक महामंत्र....

वस्तु स्तवन

विश्व नियम को कभी भूलकर धैर्य नहीं खोना होगा,
वज्र प्रहार भले नित प्रति हो, दृढ़जीवी होना होगा।
आत्म कार्य की दृढ़तर गठड़ी चित पर धर ढोना होगा,
शांति समर में राग-ज्ञान बिच भेद विज्ञान प्रथम होगा।
ज्ञान प्रभु का आये राग बिच द्वैत संबंध रखना होगा,
ज्ञान सूर्य के प्रबल शौर्य से दोषों का क्षरना होगा।
धैर्य विवेक सदा जागृत हो... कष्ट कहाँ से आवेगा,
होती निश्चय जीत आत्म की यही भाव भरना होगा।

वस्तु तत्त्व—सभी जीव (आत्मा) ज्ञानमय हैं, क्षणिक दोष दुःखमय नहीं है, न अन्य किसी का कर्ता-भोक्ता व स्वामी हो सकता।

कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य की अवस्था में कुछ भी कर सकता नहीं क्योंकि—

अनादि निधन वस्तु न्यारी-न्यारी, नित्य और परिणमनशील है ही, जो अपनी-अपनी मर्यादा सहित स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव से है, पर से नहीं है। निरंतर परिणमन करती है, कोई किसी के आधीन एक समय के लिये भी नहीं है। कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं होती। सदा ऐसी मर्यादा होने से कोई उन्हें अपने आधीन करना चाहे, परिणमाना चाहे तो व्यर्थ खेद खिन्न होगा। जो सुख का उपाय नहीं है किंतु वह तो मिथ्यामान्यता ही है। अतः जो जीव ऐसा मानता है कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ और परवस्तु मेरे में परिवर्तन कर सकते हैं तो उन्हें छहों द्रव्य की स्वतंत्रता नाश करनेवाला और द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। निमित्त-व्यवहार के कथन को उपादान और निश्चय के अर्थ में मानना बड़ा अनर्थ है।

उपादान निश्चय जहाँ तहँ निमित्त पर होय,
भेदज्ञान प्रवान विधि विरला बूझै कोय।

अर्थ—जहाँ उपादान अर्थात् निज शक्तिरूप निश्चय कारण तैयार है, वहाँ उचित निमित्त होता ही है, ऐसा निश्चय-व्यवहारनय के कथन को प्रमाण करके व्यवहार-निमित्त को उसके स्थान पर और उपादान निश्चय को उसके स्थान पर जानता है, वही भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि है और जो किसी द्रव्य के अंश किसी में मिलाकर 'निमित्त चाहिये... व्यवहार चाहिये' ऐसा संयोगीदृष्टि द्वारा संयोग और आस्रवतत्त्व की भावना करता है, वह मिथ्यादृष्टि जीव स्वतंत्रतया परतंत्रता की भावना और सर्वत्र पराधीनत्व का प्रतिभास करता ही है। ज्ञानी नित्य निज स्वभावभाव की दृष्टि से परतंत्रता की निवृत्ति और स्वतंत्रता-समता शांति की प्राप्ति द्वारा सम्यक् स्वतंत्रता का प्रतिभास करता है।

निमित्त नैमित्तिक का मेल और स्वतंत्रता

प्रश्न—निश्चयाभासी और व्यवहाराभासी का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—आचार्यकल्प श्री टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७वें में से पढ़ लेना चाहिये अर्थात् दोनों को राग की रुचि है। कारण कि सर्वज्ञस्वभावी ज्ञातास्वभाव की अरुचि है। शुभाशुभ राग विकल्प में कर्तापन की पुण्य की रुचि है।

प्रश्न—प्रथम रागरूप व्यवहाररत्नत्रय चाहिये, निश्चय सम्यक्त्वादि तो ८वें गुणस्थान में होता है। यह कथन बराबर है ?

उत्तर—नहीं। यह शुभरागरूप व्यवहार, निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान बिना व्यवहार (-उपचार) रत्नत्रय नाम न पाकर व्यवहाराभासी कहने में आता है। चतुर्थ गुणस्थान से ही निश्चय सम्यक्त्व और आंशिक स्वाश्रयरूप निश्चय धर्म है ही। ज्ञानी भेदरूप पराश्रयरूप किसी भी व्यवहार का अवलंबन लेना चाहता नहीं। मुख्य चैतन्यसामान्यस्वभाव का अवलंबन लेकर स्थिर होना ही चाहता है। किंतु मंद प्रयत्न के समय बीच में बल पूर्वक व्यवहार का अवलंबन (आश्रय) आ जाता है। अतः व्यवहारमोक्षमार्ग वह सच्चा साधन न मानकर इसको उपचार रत्नत्रय कहा है।

प्रश्न—उसे सहचर हेतु क्यों कहा है ?

उत्तर—अन्यमत श्वेताम्बर आदि मानते हैं कि मोक्षमार्ग में चाहे जैसा-कैसा भी व्यवहार हो-देश काल वश कैसा भी लिंग भेष व्रतादि हो किंतु वैसा कभी नहीं होता। किंतु जैसा सर्वज्ञ के आगम में कहा है, ठीक वैसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंधरूप व्यवहार भूमिकानुसार होता है। उसमें कोई अपवाद नहीं है। ऐसा अविनाभाव नियम जानकर व्यवहाररत्नत्रय को साधन तथा सहचर हेतु कहा है।

प्रश्न—वह उपचार रत्नत्रय सरागभाव होने से बाधक ही तो है। उसे साधक (साधन) क्यों कहा जाये ?

उत्तर—वीतरागभाव का तो वह बाधक ही है। किंतु चौथे-पाँचवें-छठे आदि गुणस्थानामें में जिस जाति का जितना रागांश रहता है।—वह उस भूमिका का साक्षात् बाधक हेतु नहीं होने से उपचार से साधक (साधन) कहा गया है।

विविध-समाचार

पवित्र धर्म-प्रभावनामय जैन शिक्षण शिविर

गुना (म०प्र०)

से दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के मंत्री श्री मांगीलाल जैन का पत्र है कि—सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के पवित्र अध्यात्म देशना से हमारे म०प्र० में ही नहीं वरन् संपूर्ण भारत के धर्म जिज्ञासुजनों में पवित्र अध्यात्म का प्रचार तीव्रगति से हो रहा है।

तारीख ७ जून से तारीख २१ जून ६६ तक श्री म० प्र० दिगम्बर जैन धार्मिक शिक्षण शिविर का मंगल आयोजन हुआ, जिसमें बाहर गाँवों से १७५ व स्थानीय विद्यार्थी एवं प्रौढ़

उपरांत ३० करीब त्यागी व्रती सब मिलकर ७०० उपरांत संख्या में सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों की शिक्षा प्राप्त की।

कार्यक्रम

तारीख ७ जून—

श्री म०प्र० दिगम्बर जैन शिक्षण शिविर के मंगल उद्घाटन के प्रसंग श्री दिगम्बर जैन बड़े मंदिरजी से शास्त्रजी का जुलूस (रथयात्रा) नगर में होता हुआ श्री महारानी विद्यालय पहुँचा, वहाँ श्री पंडित खेमचंदजी शेठ द्वारा मंगल उद्घाटन पश्चात् जुलूस दिगम्बर जैन मंदिर बाजार पर पहुँचा, पश्चात् सवेरे ९ बजे जैन स्वाध्यायभवन पर सागर निवासी समाज जातिभूषण सेठ श्री भगवानदासजी द्वारा ध्वजारोहण हुआ। ९ से १० तक श्री पंडित फूलचंदजी द्वारा मंगल प्रवचन पश्चात् स्वागत समारोह, अध्यक्षीय भाषण आदि कार्यक्रम सम्पन्न हुए। दोपहर में १ से ३ तक म०प्र० दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की कार्य० स० की बैठक, सायं ४ से ५ प्रथमादि शिक्षणवर्ग प्रारंभ, रात्रि शुरु में जिनेन्द्र भक्ति पश्चात् ९ से १० तक श्री खेमचंदजी शेठ द्वारा शास्त्र प्रवचन।

तारीख ८ जून—

(१) सामूहिक जिनेन्द्र पूजन; (२) ७ से ८ बजे तक शिक्षण वर्ग; (३) शास्त्र प्रवचन ८ से ९ बजे; (४) १० से ११ बजे तक भोजनादि; (५) १ से २ तक बाजार मंदिर पर सिर्फ महिलाओं के लिये शिक्षणवर्ग; (६) १ से २ विद्यार्थियों का शास्त्र स्वाध्याय; (७) २ से ३ तक शंका-समाधान, तत्त्वचर्चा; (८) शाम को ४ से ५ तक शिक्षण कक्षाएँ।

तारीख ८ से २१ तक—

विशेष कार्यक्रम में बाहर से आये हुए विद्वानों में से क्रमानुसार व्याख्यान, पश्चात् रात्रि ९ से १० तक श्री पंडित खेमचंदभाई द्वारा शास्त्र प्रवचन तारीख ७ से २१ जून तक शिक्षणवर्ग का संचालन बारह सुयोग्य विद्वानों द्वारा किया गया था। १. पंडित श्री खेमचंदजीभाई शेठ, २. श्री नेमिचंदभाई (रखियाल गुज०), ३. श्री देवशीभाई (राजकोट, सौराष्ट्र), ४. श्री चिमनभाई सोनगढ़, ५. श्री रमेशचंदजी मलकापुर, ६. श्री पंडित श्री हुकमीचंदजी अशोकनगर, ७. श्री पंडित रतनलालजी विदिशा, ८. श्री धन्नालालजी लश्कर, ९. श्री पंडित फूलचंदजी सिद्धांत शास्त्री वाराणसी, १०. श्री पंडित गेंदालालजी शास्त्री बूँदी (राजस्थान),

११. श्री युगलजी एम.ए. साहित्यरत्न कोटा (राजस्थान), छह दिन, १२. श्री पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी (मात्र दो दिन के लिये)

विद्वानों द्वारा अपनाई गई शिक्षण शैली अति सुगम और आत्महित में ही प्रयोजनभूत थी।

विद्वानों की शैली

प्रवक्ता श्री खेमचंदभाई द्वारा श्रोताओं के हृदय में गाढ़ धार्मिक रुचि जमानेवाला नंबरवार 'बोल', श्री नेमिचंदजी द्वारा दृष्टांत तथा उसके सिद्धांत में वीतरागी रहस्य, श्री देवशीभाई में अलौकिक शिक्षणशैली तथा ज्ञायकस्वभावी आत्मा को अनुभव में लेने की बात उपरांत अध्यात्मरस से भरपूर मनोज्ञ गीत, श्री चिमनभाई-रमेशचंदजी द्वारा शिक्षण देने की शैली तथा शिशुवर्ग के लिये आत्मस्वभाव को उछालनेवाले ३२ बोल जो विशेष स्मरणीय एवं उल्लेखनीय रहे। श्री पंडित जगन्मोहनलालजी के शंका-समाधान संबंधी कार्यक्रम तथा श्री युगलजी, श्री पंडित फूलचंदजी, श्री पंडित हुकमचंदजी, श्री पंडित गेंदालालजी द्वारा दिये गये प्रवचन तथा शिक्षण शंका समाधान भी अध्यात्म से भरपूर होने से बड़े ही रुचिकर एवं आकर्षित थे।

१५ दिन के व्यस्त धार्मिक कार्यक्रम को जीवन में कभी भी भुलाया नहीं जा सकता, जैन-अजैन सभी इतने बड़े शिक्षण वर्ग के कार्यक्रम देखकर चकित होते थे व सभी मुक्तकंठ से इस अपूर्व मंगल कार्य की सराहना करते हुए देखने में आते थे। त्यागी-व्रती ३० करीब थे, सभी विद्वान तथा समाज अपार आनंद प्रगट कर रहे थे।

इस अध्यात्म वातावरण से प्रेरित होते हुए तारीख २०-६-६६ के रात्रि प्रवचन में १५०० भाई-बहिनों के बीच में पंडित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने शिक्षण शिविर पर प्रकाश डालते हुए कहा कि—म०प्र० दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल तथा गुना समाज द्वारा आयोजित इस शिक्षण का आयोजन अत्यंत महत्वपूर्ण एवं सराहनीय कार्य है। साथ ही साथ यह बतला देना चाहता हूँ कि आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी द्वारा प्ररूपित मार्ग—उपदेश जैन धर्म के अनुरूप है—सच्चा है, स्वामीजी का समाज के ऊपर बहुत बड़ा उपकार है।

उन्होंने हजारों पथभ्रष्ट जीवों को सच्चा मार्ग दिखाया है। उनके संबंध में थोड़े लोग टीका टिप्पणी भी करते हैं, जो तथ्यहीन है। विद्वानों के बीच इस वातावरण को लेकर जो

मतभेद चल रहे हैं, उनके प्रश्नोत्तर बहुत विस्तार सहित जयपुर में हो चुके हैं, जिन सबको मिलाकर प्रश्नोत्तर के रूप में बहुत जल्दी ही आपके समक्ष पुस्तक छपकर आ रही है।

महावीरजी में शास्त्रीय सभा में प्रस्तावित प्रश्नों के उत्तर (उनका स्पष्टीकरण) आत्मधर्म में बहुत अच्छे ढंग से आगम आधार से प्रकाशित हो चुके हैं।

यह तत्त्वज्ञान का आयोजन तो पंच कल्याणकों से भी अधिक महत्वपूर्ण है। आप सब लोग इस शिक्षण द्वारा अपने अंदर तत्त्वज्ञान के संस्कार डालकर तत्त्व का अभ्यास कर अवश्य जीवन सफल बनावेंगे। इसके पश्चात् सर्वज्ञ वीतराग कथित इस अध्यात्म वातावरण पर श्री खेमचंदभाई ने भी बहुत सुंदर प्रकाश डालते हुए कहा कि—जो लोग इस तत्त्वज्ञान का विरोध भी करें तो उनकी वर्तमान स्थिति को गौण करके, उनका असली तत्त्व देखिये, वह भी सब प्रभु हैं। हमें दूसरों में दोष नहीं देखना है, परंतु आत्महित के लिये तत्त्वज्ञान का अपूर्व प्रयत्न ही अतीव आवश्यक है। सर्व अवसर आ चुके हैं, ऐसा जानकर वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानकर स्वसन्मुख होने के अभ्यास द्वारा अपना हित कर लेना चाहिये। पिछले दिन श्री बाबूभाई मेहता फतेपुर से पधारे, कहा कि—लगातार एक ही स्व से 'जिनवर कथित तत्त्वों का अभ्यास कीजिये, श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके सम्यक्रत्नत्रय प्रगट करने की प्रेरणा दी।

तारीख २१ जून को एक विशाल चल समारोह पालकी में जिनवाणी-समयसारजी को विराजमान करके शिक्षणस्थल श्री महारानी लक्ष्मीबाई कन्या विद्यालय से सदर बाजार होकर जिनमंदिर के लिये प्रारम्भ हुआ, बड़े ही आनंद उत्सवमय शांत वातावरण में जिनेन्द्र भक्ति और जयकार के नारों के साथ सदर बाजार में से ५ बजे जिनमंदिर पहुँचा। यह चल समारोह श्री कनुभाई गांधी दाहोद के सहयोग से प्रथम के जुलूस से भी विशेष रोचक व आनंदमय था। विशेष में जिनमंदिर पर पहुँचने के पश्चात् जिनेन्द्र भक्ति की धुन गवाई गई, तथा श्री कनुभाई तथा देवशीभाई ने दूने उल्लासपूर्वक अध्यात्मरस से भरपूर कीर्तन भजन गवाए।

रात्रि को आम सभा में श्री खेमचन्दभाई का प्रवचन हुआ, १५ दिन के शिक्षण में दिया गया जो शिक्षण व समस्त प्रवचनों का सार दर्शाते हुए सर्वज्ञ वीतराग कथित मंगलदशा ही प्रगट करना है; सभी जीवों की आत्मा का सच्चारूप परमार्थरूप सिद्ध परमात्मा के समान ही है। अतः इसका स्वीकार कर समस्त परद्रव्य-रागादि से दृष्टि उठाकर पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर,

अखण्ड ज्ञायकस्वभाव पर दृष्टि करने से मंगलमय दशा प्रगट होती है, वही प्रगट करना इस शिविर का उद्देश्य है... इन शब्दों में आपका प्रवचन पूर्ण हुआ। आभार प्रदर्शन समारोह का कार्यक्रम माननीय श्री पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री की अध्यक्षता में हुआ।

सर्वप्रथम श्री पूरनचंदजी जैन एडवोकेट गुना के द्वारा परिचय के साथ-साथ बाहर से पधारे हुए मुख्य अतिथि श्री खेमचंदभाई, श्री पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, पंडित फूलचन्दजी शास्त्री, श्री पंडित गेंदालाजी शास्त्री, श्री पंडित देवशीभाई, श्री युगलजी आदि १३ व्यक्ति द्वारा तथा सागर निवासी श्री सेठ भगवानदासजी तथा ब्रह्मचारी राजारामजी, ब्रह्मचारी भँवरलालजी, ब्रह्मचारी भगवानदासजी आदि महानुभावों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन की तथा जैन समाज के अध्यक्ष श्री नाथूलालजी मंत्री श्री दिगम्बन जैन मुमुक्षु मंडल की ओर से श्री संतोषकुमारजी (भोपाल) ने उन महानुभावों को हार-मालाएँ समर्पित कीं। (इस समय २००० करीब उपस्थिति थी) तत्पश्चात् श्री नवनीतभाई सी० जवेरी तथा बंबई मुमुक्षु मंडल की ओर से आये हुए शुभेच्छा के तार पढ़कर सुनाये गये। श्री गट्टूलालजी राखन अध्यक्ष श्री म० प्र० दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल गुना के द्वारा इस मंगलमय आयोजन पर प्रकाश डाला गया तथा उनका सम्पूर्ण श्रेय परमकृपालु श्री कानजीस्वामी को है, जिनकी पवित्र देशना से प्रभावित होकर म० प्र० दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल भोपाल व गुना जैन समाज के सहयोग से यह मंगल अवसर प्राप्त हुआ है। इस आयोजन को सफल बनाने में बाहर से पधारे हुए सभी विद्वत्जनों, त्यागी ब्रह्मचारीगणों, तथा म०प्र० दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल के अध्यक्ष सेठ भगवानदासजी सागर तथा मंत्री महोदय श्री डालचंदजी भोपाल जिन्होंने अपना संपूर्ण सामर्थ्य लगाकर इस आयोजन के चार चांद लगा दिये हैं। इसके अतिरिक्त जिन-जिन महानुभावों ने हमें स्थान आदि कार्यों में अपने प्रकार से सहायता की है, उन सबका व शिखण शिविर संबंधी सभी संयोजक महोदयों एवं सभी सदस्यों का आभार प्रदर्शित करता हूँ। इसप्रकार निवेदन किया गया। पश्चात् श्री जम्बूप्रसादजी एडवोकेट गुना ने जैन समाज गुना की ओर से आभार प्रदर्शन किया। (महिला मंडल की ओर से माँ सा० धर्मपत्नी श्री खेमचंदभाई) का सम्मान समारोह आभार प्रदर्शन किया गया।

—इसके पश्चात् विशेष आमंत्रित महानुभाव सर्व श्री रामसहाय पांडे (बंबई) जो हमारे म०प्र० के संसद सदस्य तथा श्री वृंदावनप्रसादजी तिवारी एम.एल.ए. गुना का स्वागत

किया।श्री रामसहायजी पांडे इस वातावरण के परिचय से बहुत प्रभावित हुए, आपने भाषण में कहा कि सच्चे और शाश्वत मोक्षसुख को प्रगट करने का यही सच्चा मार्ग है, मैं स्वयं इस बात को महसूस करता हूँ कि यही एक सच्चा मार्ग-सही साधन है। मैं जिस राजनीति के बीच हूँ वह कोई सच्चा सुख का मार्ग नहीं है, मुझे आज इस जन समूह के बीच इस शिक्षण शिविर का सम्पन्न समारोह व उत्साह देखकर अत्यंत प्रसन्नता होती है।

श्री तिवारीजी ने भी इसप्रकार अपूर्व उल्लास एवं आनन्द व्यक्त किया व इस मंगलमय अवसर के बार में पधारे विद्वाना वर्ग, त्यागी-व्रतीगणों व समाज के इस शिक्षण आयोजन कर्ताओं को हार्दिक धन्यवाद दिया व हमें ऐसे अवसर बारम्बार प्राप्त हों, मंगल भावना व्यक्त की। पश्चात् श्री पंडित जगन्मोहनशास्त्री इस शिविर के मंगल कार्य की सराहना कर अपूर्व आत्मलाभ प्रगट करने की प्रेरणा दी, आभार प्रदर्शन किया।

मांगीलाल जैन
मंत्री श्री दिगम्बर जैन धार्मिक शिक्षण समिति,
गुना (म०प्र०)

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी)

तारीख ५-७-६६ परमोपकारी पूज्य श्री स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे श्री योगीन्दु आचार्यदेव कृत योगसार तथा दोपहर को श्री नियमसारजी शास्त्र चल रहा है।

धर्मोत्सव

जेठ सुदी पंचमी और श्रावण वदी १ वीर शासन जयंती महोत्सव विशेष उत्साह सहित मनाया गया, तथा अषाढ़ अष्टाह्निका का महापूर्व बड़े उत्साह के साथ विशेष भक्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ। जिसमें जिनसहस्त्रनाम पूजन विधान सामूहिक पूजन में चलाया गया था।

अहो, सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न!

(१) यह जो आत्मा है, वह सर्वोत्कृष्ट चैतन्यरत्न है।

(२) समस्त श्रुत समुद्र का मंथन कर करके संतों ने यह सर्वोत्कृष्ट रत्न प्राप्त किया है।

(३) आकाश क्षेत्रस्वभाव से अनंत है, फिर भी वह अचेतन-जड़ है। जबकि ज्ञान तो भावसामर्थ्य से अनंत है, और वह चैतन्यमूर्ति जाननेवाला है।

(४) अनंत आकाश, वह न तो अपने को जानता है और न पर को ही जानता है। अनंत ज्ञानस्वभावी आत्मा तो अपने को जानता है और पर को भी जानता है।

(५) अनंत आकाश को भी अपनी सामर्थ्य से माप लेनेवाले ज्ञान की अनंतता आकाश की अनंतता से भी अधिक है। कितनी अधिक? कि अनंत गुणी।

(६) तो ऐसे अनंतगुणी ज्ञानसामर्थ्य की अनंतगुणी महिमा लाकर हे जीव! उस ज्ञान में ही एकाग्र हो... जहाँ तू ज्ञान में एकाग्र हुआ कि लोकालोक तो तेरे ज्ञान में झुक गए (आ गए)। जैसे इन्द्रों का मुकुट तीर्थंकर के चरणों में झुक जाता है, उसीप्रकार लोकालोक केवलज्ञान में झुक पड़ते हैं। उस केवलज्ञान की आज्ञा जगत में कोई समाप्त नहीं कर सकता। उसके ज्ञेयस्वरूप से कोई बाहर नहीं रह सकता।

(७) अहा, कैसी दिव्य ज्ञानसामर्थ्य!! कैसी अचिंत्य इसकी महिमा!

(८) अरे, तेरे मति-श्रुतज्ञान की ही ऐसी ताकत है कि ऐसे केवलज्ञान के सामर्थ्य का अपने में ही निर्णय कर ले-परंतु कब?—जब वह स्वसन्मुख हो तब।

(९) चैतन्य-चिन्तामणि की अचिंत्य महिमा का गंभीर गहराई से चिंतन करने से विकल्प और ज्ञान की एकता टूट जाती है, और ज्ञान ज्ञान में ही एकाग्र हो जाता है—फलतः आत्मा सम्यक्त्वादि भावों के रूप में खिल उठता है। इसप्रकार आत्मार्थी जीव को यह सर्वोत्कृष्ट चैतन्य चिन्तामणि उत्तम इच्छित फल (मोक्ष) का देनेवाला होता है।

(१०) केवलज्ञान की दिव्य किरणों से झलकते सर्वोत्कृष्ट चैतन्यहीरे की कीमत जो आंकता है, वह जीव उत्तम सम्यक्त्व रत्न को प्राप्त कर पश्चात् सर्वोत्तम केवलज्ञानरत्न को प्राप्त करता है।

श्री समयसार कलश टीका

श्री राजमलजी पांडे कृत प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से बराबर मिलान करके आधुनिक राष्ट्रभाषा में, सुंदर ढंग से, बड़े टाइप में उत्तम प्रकाशन:—

आत्महित का जिसको प्रयोजन हो, उनके लिये गूढ़ तत्त्वज्ञान के मर्म को अत्यंत स्पष्टतया खोलकर स्वानुभूतिमय उपाय को बतानेवाला यह ग्रंथ अत्यंत रोचक उपरांत अनुपम ज्ञान निधि है। पंडित श्री राजमलजी ने (विक्रम संवत् १६१५) पूर्वाचार्यों के कथनानुसार आध्यात्मिक पवित्र विद्या के चमत्कारमय यह टीका बनाई है। लागत मूल्य ५) होने पर घटाया हुआ मूल्य २.०० पोस्टेज-१.४५।

पता - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जैन दर्शन शिक्षण शिविर

जिनेश्वर प्रणीत ज्ञानयज्ञ

हर साल माफिक इस साल भी श्रावण (द्वितीय) सुदी ६ रविवार, तारीख २१-८-६६ से तारीख ९-९-६६ तक २० दिन के लिए जैन शिक्षणवर्ग चलेगा, धर्म जिज्ञासुओं के लिये सप्रेम आमंत्रण है। आने के लिये प्रथम पत्र द्वारा सूचित करना जरूरी है, यह वर्ग भी मात्र पुरुषों के लिये ही है। व्यवस्था संस्था की ओर से होगी।

पत्र व्यवहार का पता—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्रीमत्भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

श्री नियमसारजी शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

सर्वज्ञ वीतराग कथित महान आध्यात्मिक भागवत् शास्त्र, ११ वीं शती के अध्यात्मरस के सर्वोत्तम कवि शिरोमणि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिवरकृत संस्कृत टीका तथा अक्षरश: प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्र जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से मांग है, पूर्णरूप से संशोधित, यह ग्रंथ महान, अनुपम, पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५, बड़ी साइज में, रेगजीन कपड़े की सुन्दरतम जिल्द मूल्य बहुत कम कर दिया है। मात्र ४/- पोस्टेजादि अलग। देश-विदेश में, कोलेज-विश्वविद्यालयों में-सर्वत्र सुंदर प्रचार के योग्य अत्यंत सुगम और सब प्रकार से सुंदर ग्रंथ है। जिज्ञासुगण शीघ्र ओर्डर भेजें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

खास निवेदन

आत्मधर्म मासिक पत्र द्वारा २१ साल से सर्वज्ञ वीतराग कथित पवित्र तत्त्वज्ञान का प्रचार हो रहा है। २१ वें वर्ष का चंदा चैत्र मास में समाप्त हो जाता है। खुशी समाचार यह है कि—हमारी संस्था के भूतपूर्व प्रमुख श्री रामजीभाई स्मारक की ओर से इस एक वर्ष के लिये आत्मधर्म का चंदा घटाकर 'दो रुपया' रखा है। मुमुक्षु मंडलों को प्रार्थना है कि ज्यादा से ज्यादा संख्या में आत्मधर्म के नये ग्राहक बनाकर और चालू ग्राहकों से मिलकर आत्मधर्म का चंदा एकत्र करके मनिआर्डर या चैक से भेजने का कष्ट कीजियेगा, ताकि आगामी ग्राहक संख्या का अंदाजा हम लगा सकें। ग्राहक के नाम पूर्ण पते के साथ रेलवे स्टेशन, पोस्ट का जिले का साफ नाम, नये ग्राहक या पुराने ग्राहक ऐसा अवश्य लिखें, प्रथम से ही जिन्होंने चंदा जमा कराया है, भेज दिया है, वह भी हमको पत्र द्वारा सूचित करें, आपका ग्राहक नं० भी अवश्य लिखें। वैशाख मास से ही आत्मधर्म बड़ी साइज में, चित्र, कथा, विशेष लेख सहित प्रकाशित हो रहा है। वी०पी० करने में बड़ी कठिनाई रहती है, आशा है कि शीघ्र उपरोक्त सहयोग देंगे।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट (आत्मधर्म विभाग)
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५–०
प्रवचनसार	४–०
नियमसार	४–०
पंचास्तिकाय	४–५०
आत्मप्रसिद्धि	४–०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०)	५–०
स्वयंभू स्तोत्र	०–६०
मुक्ति का मार्ग	०–६०
समयसार प्रवचन भाग १	नहीं है
समयसार प्रवचन भाग २	नहीं है
समयसार प्रवचन भाग ३	नहीं है
समयसार प्रवचन भाग ४	४–०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१–०
'' ''द्वितीय भाग	२–०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०–६०
भाग–२ ०–६० भाग–३	०–६०
योगसार–निमित्त उपादान दोहा	०–१२
श्री अनुभवप्रकाश	०–३५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१–०
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन बृ० पूजा	०–७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६–०
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१–५०

[डाकव्यय अतिरिक्त]

जैन बाल पोथी	०–२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०–१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०–८७
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२–५०
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१–८५
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१–४५
अपूर्व अवसर प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०–८५
भेदविज्ञानसार	२–०
अध्यात्मपाठ	३–०
भक्ति पाठ संग्रह	१–०
वैराग्य पाठ संग्रह	१–०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०–१५
स्तोत्रत्रयी	०–५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०–२५
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३–०
'' फाईलें सजिल्द	३–७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०–१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१–०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में ग्रन्थ का मात्र	१८) ६–०

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।